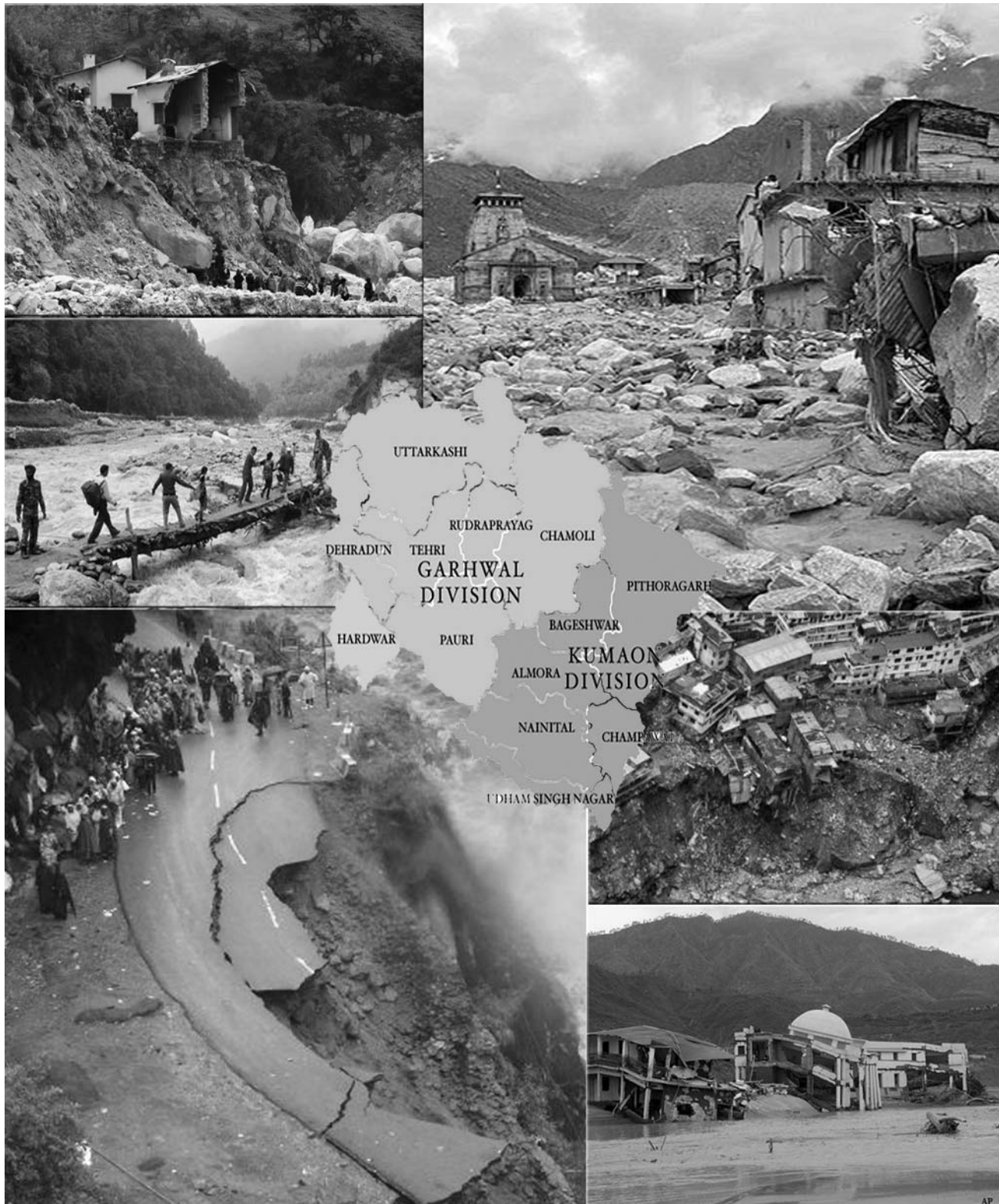


# समरथ



मई-जून 2013 ♦ नई दिल्ली



## नाहि तो जनम नसाई

पिछले कुछ अंकों में हमने समरथ के पहले पन्ने की शुरुआत नारीवादी आंदोलन को तेज करने के उद्देश्य से महिला केंद्रित रखा है। माया एंजेलो सहित कई महान कवियत्रियों की कविताओं के अनुवाद हम पेश करते आए हैं। माया एंजेलो की कविताएं समय और स्थान की सीमाओं को तोड़ते हुए कालजयी बन जाती हैं। हमारे चारों तरफ महिलाओं की घुटन मौजूद रहती है लेकिन हम उन्हें नज़रअंदाज़ कर जाते हैं। अक्सर खुद महिलाएं उस घुटन में जीकर भी खुद को अभिव्यक्ति नहीं दे पातीं या फिर उसी को ज़िंदगी मान लेती हैं। माया एंजेलो की अधिकतर कविताएं केवल महिलाओं की बात नहीं करती उनमें अधिकतर हिस्सा पुरुषों के व्यवहार, उनकी हवस, उनके जीने का अंदाज़ बयान करती हैं जो कि हर लम्हा महिलाओं की घुटन और उनकी पीड़ा का कारण बनती रहती है। माया एंजेलो महिलाओं की यौनिकता को भी बयान करने में झिझक नहीं महसूस करती। एक नवयुवती से लेकर उम्रदराज महिला यौनिकता को लेकर कैसे-कैसे दौर से गुज़रती, क्या-क्या उतार-चढ़ाव देखती है और किस प्रकार उसे अपने अंदर दबा देने का भी प्रयास करती है, ये तमाम पक्ष माया एंजेलो की कविताओं में देखे जा सकते हैं। प्रस्तुत कविता 'मर्द' यूं तो मर्दों को संबोधित करते हुए लिखी गई है लेकिन हर शब्द का केन्द्र महिला है। पंद्रह वर्ष की दहलीज़ पर खड़ी नवयुवती, उसकी तरफ बढ़ते हुए हाथ और उस नवयुवती के मिले-जुले जज़्बात जिसमें लज़्ज़त भी है और तिलमिलाहट भी। शीरीनी भी और कड़वाहट भी लेकिन फिर भी मर्दवादी सोच पर एक ज़ोरदार थप्पड़ है।



### ■ माया एंजेलो

उन जवानी के दिनों के लम्हात  
मर्द जब सड़कों पे आवारागर्द होते थे  
मर्द कुछ उम्र दराज़, और शराबी कुछ मर्द  
नौजवां तेज़ और तरार से मर्द  
तकती रहती थी उन्हें पर्दों से छिपकर अक्सर  
देखो-देखो तो इन्हें

मर्द रहते किसी सिम्त रवां हर लम्हा  
उनको एहसास था होने का मेरे थी मैं जहाँ  
पन्द्रह बरसों की कि होने को थी दोशीज़ा जवाँ  
मेरी नज़रों में थी भूक वह छुप सकती कहाँ  
वह ठहर जाते थे उस जा मेरी खिडकी थी जहाँ  
एक जवाँ लड़की के उभरे हुए सीने की तरह  
काँधे उनके भी उठे होते थे इस दर्जा वहाँ  
और इन मर्दों के जिस्मो चढ़े कोट वहाँ  
दूसरे मर्दों के छूते थे जो होते थे वहाँ

और फिर मर्द हथेली में यूँ भरते हैं तुम्हे  
ऐसा एहसास दिलाते हैं जो छूते हैं तुम्हे  
जैसे एक नस्ल फना होगी अगर तुम टूटी  
फिर ज़रा हलकी सी बढ़ती है उन हाथों की गिरफ्त  
खुशनुमा होता है उस लम्हे की लज्जत का समां  
और आगोश में भर लेता है ऐसे फ़ौरन  
कि कोई रोक भी न पाए न हो ऐसी चुभन  
रफ़ता रफ़ता यह गिरफ्त बढ़ती है सारे तन पर  
दर्द आता है दबे पांव रगों में चढ़ कर  
डर के एहसास में लिपटी हुई मुस्कान के साथ  
गुम हुई जाती हवाओं की हर रफ़्तार के साथ  
ज़ेहन फटता है रगें फटती हैं कुछ लम्हों को  
कोई चिंगारी तड़पती है पर कुछ लम्हों को  
और जो कतरे फिसलते हैं उनकी टांगों में  
और पनाह लेते हैं जूते में ढके पावों में  
यह वह कतरे हैं जो निकले हैं तुम्हारे तन से  
और जा टपके हैं उन जूतों में और टांगों में  
और जब धरती संभलती ज़रा देर के बाद  
ज़ायेका आता है वापस जो ज़बां पर इक बार  
जिस्म तब तक तो बिखर चुकता है रेज़ा रेज़ा  
बंद हो चुकते है जीवन में हैं जितने भी किवाड़  
ढूँढ कर भी नहीं मिलता किसी चाभी का सुराग

तार-ओ-तरीक यूँ हो जाती है दुनिया पूरी  
और फिर होती है बंद ज़ेहन पे खिड़की पूरी  
उसी लहराते हुए पर्दों से कुछ दूर ज़रा  
मर्द आवारा गुज़रते हैं वहां हर एक जा  
ज़ेहन में याद लिए कदमों में रफ़्तार लिए  
मर्द रहते किसी सिम्त रवां हर लम्हा  
और मैं अब से इसी जगह से बस चुप रह कर  
देखूंगी सारा नज़ारा पर जुबां बंद रख कर

(अनुवाद : खुशींद अनवर)

# विश्वविद्यालय और उत्कृष्टता के प्रश्न

■ अपूर्वानंद

पद ग्रहण करने के बाद लगभग हर पखवाड़े हमारे राष्ट्रपति किसी न किसी शिक्षा संस्थान में दीक्षांत समारोह में भाग ले रहे हैं। इससे शिक्षा, विशेषकर उच्च शिक्षा के प्रति उनके लगाव और चिंता का प्रमाण मिलता है। हर जगह उन्होंने इस पर व्यथा जताई है कि हमारे विश्वविद्यालय विश्व के दो सौ श्रेष्ठतम शिक्षा संस्थानों में कहीं नहीं हैं। चिंता कोई नई नहीं है। हमारे विश्वविद्यालयों में प्रथम श्रेणी का शोध नहीं होता, हम मौलिक खोज नहीं कर पाते, ज्ञान भंडार में हमारे योगदान के प्रमाण की तलाश हमें लज्जित करती है। शिकायतों की फेहरिस्त और लम्बी हो सकती है। इस पर ताज्जुब ज़रूर किया जा सकता है कि पलक झपकते ही समितियाँ और क़ानून बनाने की अभ्यस्त व्यवस्था ने इस प्रश्न पर विचार करने के लिए अब तक कोई समिति क्यों नहीं बनाई!

एक प्रवृत्ति इस सवाल से कतराने की रही है। इस राष्ट्रवादी रवैये के मुताबिक़ हमारी अपनी परिस्थितियाँ हैं और हमें श्रेष्ठता के अपने पैमाने बनाए चाहिए, पराए पर्यावरण में फलने फूलने वाले शिक्षा संस्थानों से तुलना व्यर्थ है, उनके मानदंड हमारे मानदंड नहीं हो सकते! लेकिन हम सब जानते हैं कि यह तर्क समस्या से कतराने का खूबसूरत आवरण है, कि हम अंतर्राष्ट्रीय वातावरण में काम कर रहे हैं और 'हमारा' सीमित अर्थ में ही हमारा है। कक्षाओं में हम ज्ञान के जिन स्रोतों का सहारा लेते हैं, वे पूरी दुनिया से लिए जाते हैं और संभवतः यह अपेक्षा और महत्वाकांक्षा गलत नहीं है कि कक्षा अमेरिका की हो या अफ्रीका की, ज्ञान चर्चा के क्रम में भारतीय स्रोत तक जाना अनिवार्य हो। यह विश्वगुरु की पदवी हासिल करने का राष्ट्रवादी अभियान नहीं हो सकता, ज्ञान की अन्तर्राष्ट्रीय विरादरी में शिरकत करने की योग्यता अर्जित करने का उद्यम अवश्य है। जो विश्वविद्यालय अपने परिसर में इस प्रकार का ज़रूरी ज्ञान पैदा नहीं करता वह ज्ञान के अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का सदस्य नहीं हो सकता। लेकिन यह विश्वविद्यालय का एक पक्ष है। यह मानने के पर्याप्त कारण हैं कि इसे लेकर समाज में, जो विश्वविद्यालयों को संपोषित करता है, जागरूकता नहीं के बराबर है। वह इन्हें इसी रूप में उपयोगी मानता है कि वे इस प्रकार की प्रमाणन व्यवस्था हों जिन पर उद्योगों

और दूसरे काम देने वाले संस्थानों का यकीन हो। उसका संघर्ष कई बार विश्वविद्यालयों से इस बात को लेकर होता रहा है कि वे इन प्रमाण पत्रों या डिग्रियों के रास्ते में बाधा न बनें। किसी भी तरह डिग्री दे देने से अधिक उनका उपयोग नहीं है। वे इसकी भी उम्मीद उनसे नहीं करते कि वे डिग्री को अर्थवान बनाएं। एक ही साथ डिग्री कहीं से और व्यावहारिक प्रशिक्षण कहीं और से लेने में उन्हें कोई ऐतराज नहीं।

समाज की इस सीमित अपेक्षा को काफी मानना ज़रूरी नहीं। हम विश्वविद्यालयों को मात्र परीक्षा के कारखानों में नहीं बदल देना चाहते। हम चाहते हैं कि ज्ञान की नई सरहदें खींचने की कुव्वत उनमें पैदा हो। इसके अलावा उदार लोकतांत्रिक समाज के अभ्यास के लिए भी हमें विश्वविद्यालयों की ज़रूरत है। नारीवादी ज्ञान अगर आन्दोलनों का ऋणी है तो उसके निर्माण में विश्वविद्यालयों की अहम् भूमिका रही है। उसका व्यावहारिक उपयोग अब कितने स्तरों पर हो रहा है, कहने की आवश्यकता नहीं। इसलिए ज्ञान निर्माण की बुनियादी जिम्मेदारी को नज़रअंदाज करने का कोई सवाल ही नहीं पैदा होता। और इस मामले में हम निश्चित ही दुनिया के अग्रगण्य विश्वविद्यालयों में नहीं हैं।

ज्ञान निर्माण या सृजन को विश्वविद्यालय में संभव करने के लिए किस प्रकार की परिस्थितियाँ चाहिए? दूसरे शब्दों में, उच्च शिक्षा में उत्कृष्टता के घटक तत्व क्या हैं या वह सांस्थानिक वातावरण किस प्रकार का है जो उत्कृष्टता की ओर पूरे विश्वविद्यालय समुदाय को प्रेरित करता है? भारतीय विश्वविद्यालय व्यवस्था उन्हें कैसे उपलब्ध कर सकती है?

विश्वविद्यालय की सांस्थानिक संरचना पर विचार किये बिना यह समझना कठिन है कि उसमें उत्कृष्टता के लिए अनुकूल वातावरण कौन और कैसे उत्पन्न करता है। राष्ट्रपति महोदय भाषणों से आगे इस पर विचार करते तो सबसे पहले उन्हें खुद सारे केन्द्रीय विश्वविद्यालयों के 'विजिटर' पद को छोड़ देने का ख्याल आता। दुनिया के श्रेष्ठतम विश्वविद्यालयों के सांस्थानिक ढाँचे में कहीं भी सर्वोच्च पद पर ऐसा व्यक्ति नहीं होता जो मात्र राष्ट्रपति या राज्य प्रमुख होने के नाते ही किसी विश्वविद्यालय का प्रमुख या अध्यक्ष बनने की अर्हता हासिल कर लेता हो। किसी भी श्रेष्ठ माने जानेवाले

विश्वविद्यालय का प्रमुख बनने के लिए किसी भी व्यक्ति को प्रमाणित करना होता है कि सम्बन्धित विश्वविद्यालय से उसका गहरा रिश्ता है और उसमें उसकी पर्याप्त रुचि है और वह अपना समय और ध्यान उसके लिए लगाने को तैयार है। हमारे कुलाध्यक्षों की तरह वह मात्र उपदेशन नहीं होता। उसी की तरह अन्य न्यासियों या प्रबंधन के सदस्यों का चुनाव भी विश्वविद्यालय के शिक्षण, शोध और अन्य गतिविधियों से उनके गहरे जुड़ाव के प्रमाण के बाद ही हो पाता है। विश्वविद्यालय की सर्वोच्च प्रबंधन समिति और विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी में भी स्पष्ट स्तर-भेद होता है।

अमेरिका में, हम जिसका अनुकरण करने को बेताब हैं, प्रायः प्रबंधन-समिति (गवर्निंग बोर्ड) या कार्यकारिणी का अध्यक्ष विश्वविद्यालय का 'प्रेसिडेंट' (हमारे यहाँ कुलपति) नहीं होता। वह न्यास द्वारा बनाई गई समितियों का सदस्य हो सकता है लेकिन उनका प्रमुख नहीं। यह भी ध्यान देने की बात है कि प्रत्येक वर्ष विश्वविद्यालय के प्रेसिडेंट के कार्य की बाकायदा समीक्षा न्यास या प्रबंधन-समिति द्वारा की जाती है। इसकी जांच-परख की जाती है कि अकादमिक सत्र के आरम्भ में जो लक्ष्य निर्धारित किए गए थे, उन्हें प्रेसिडेंट के नेतृत्व में कितना हासिल किया जा सका है। इसका आशय यह है कि प्रेसिडेंट अपने ऊपर एक निकाय के समक्ष जवाबदेह है और उसे कोई भी निर्णय लेते समय इसका अहसास रहता है। हमारे विश्वविद्यालयों की तरह वह कार्यकारिणी की बैठक नहीं चला सकता और न उसे 'रुलिंग' देने का अबाधित अधिकार होता है। जवाबदेही के ढाँचे के बिना कोई भी प्रबंधन चल नहीं सकता।

अगर संस्था अपने लक्ष्य प्राप्त करने में लगातार अक्षम है तो उसके प्रबंधन को जिम्मेवारी लेनी होगी और अपने भीतर भी कुछ बदलाव लाने होंगे। ताज्जुब की बात है कि हमारे विश्वविद्यालय प्रमुख (प्रायः राष्ट्रपति या राज्यपाल) विश्वविद्यालयों के पतन पर क्षोभ जाहिर करते समय एक बार भी अपनी भूमिका पर विचार नहीं करते और न यह सोच पाते हैं कि इस न्यूनता के लिए विश्वविद्यालय की प्रबंधन-व्यवस्था की कोई खामी या कमी भी जिम्मेवार हो सकती है।

प्रमुख न्यासी या 'चेयर' और प्रेसिडेंट का कार्य-विभाजन स्पष्ट है और चेयर मात्र शोभा की वस्तु नहीं है। इसके अलावा, विश्वविद्यालय के प्रेसिडेंट का (हमारे यहाँ कुलपति) काम भी संस्था के दैनंदिन कार्यों में उलझे रहना नहीं है। हमारे कुलपतियों को पार्किंग में लगी गाड़ियों पर लगे स्टिकर की जांच से लेकर दफ्तर में कर्मचारी की उपस्थिति का निरीक्षण, कक्षाओं के निश्चित समय पर चलने की गारंटी तक का काम करना पड़ता है। दूसरी तरफ़, हमारे यहाँ के डीन प्रायः अधिकार विहीन होते हैं। वे अकादेमिक प्रस्ताव देने

का काम नहीं करते और अपने संकायों में अध्यापकों की नियुक्ति, या पदोन्नति में भी उनकी भूमिका नहीं होती। ये सारे अधिकार या दायित्व कुलपति के हाथ में होते हैं। सहज ही कल्पना की जा सकती है कि भारत में किसी बड़े विश्वविद्यालय का कुलपति होने के लिए किस प्रकार की प्रतिभा और क्षमता चाहिए। आश्चर्य नहीं कि कि यहाँ के कुलपति प्रायः शिकायतों से भरे होते हैं और उनकी आत्म छवि इस भीमाकार दायित्वबोध से निर्मित होती है।

ज्ञान के क्षेत्र में उत्कृष्टता बिना इत्मीनान के नहीं आ सकती। इसके लिए लचीलापन भी चाहिए। क्या इसकी छूट हमारे हमारी व्यवस्था में है कि वह इसकी पहचान कर सके कि किस अध्यापक में शोध की प्रवृत्ति है और क्या इसकी गुंजाइश है कि इसके लिए उसे शिक्षण कार्य से कुछ राहत दी जा सके? सार्वभौम 'वर्क-लोड' की भाषा में काम करने वाली ज्ञान-व्यवस्था को ज्ञान निर्माण के सपने देखने का अवकाश नहीं होता। अगर शोध के बारे में हमारे संस्था प्रमुखों का विचार यह हो कि अध्यापक नौ बजे से पाँच बजे तक कक्षा में रह कर रात में शोध करें तो कैसा शोध होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है। अवकाश को जिस व्यवस्था में नफरत की निगाह से देखा जाता हो और जो हाजिरी बजाने को सबको मजबूर करने में ही कामयाबी महसूस करे वह और कुछ कर ले, ज्ञान निर्माण नहीं कर सकती, उत्कृष्टता और श्रेष्ठता तो उसके लिए सपना ही है।

उत्कृष्टता संस्था प्रमुख का लक्ष्य हो या महत्वाकांक्षा, इसके लिए उसे अपने संस्थान के प्रत्येक इकाई से वास्तविक लगाव होना चाहिए। यह तभी हो सकेगा जब उसके चुनाव में ये इकाइयां भूमिका निभाएं। इस जुलाई से प्रिंसटन यूनिवर्सिटी के प्रेसिडेंट का कार्य क्रिस्टोफर इज्युबर संभालेंगे। उनका चयन जिस समिति ने किया उसमें नौ न्यासी, चार अध्यापक, दो स्नातक और एक परास्नातक छात्र और एक गैर-शैक्षणिक कर्मी शामिल थे। विश्वविद्यालय की चुनौतियों, संभावनाओं, नए नेता की अर्हता पर राय शुमारी के लिए इस समिति ने पूरे देश में मशविरा किया, परिसर में सौ से अधिक बैठकें कीं, वेब साईट पर उसे तीन सौ बीस सुझाव मिले। प्रत्याशियों से इस समिति ने कई बैठकें कीं और फिर क्रिस्टोफर को अपने प्रेसिडेंट के रूप में चुना। यह प्रक्रिया छह महीने चली और पूरी तरह से पारदर्शी थी। हमारे विश्वविद्यालयों की तरह तीन बुद्धिमान लोगों की खोज समिति की सदाशयता और फिर विश्वविद्यालय से राजसी दूरी पर बैठे कुलाध्यक्ष के विवेक पर विश्वविद्यालय के नेतृत्व के चयन का काम छोड़ नहीं दिया जाता। उत्कृष्टता की आकांक्षा खंड-खंड पूरी नहीं होती, उसके लिए एक उत्कृष्ट सांस्थानिक प्रक्रिया बनानी पड़ती है।

# गुजरात मॉडल में दलित

■ सुभाष गाताडे

दलितों के अधिकारों की जानकारी हासिल करने के लिए सूचनाधिकार के तहत डाले गए आवेदन पर जानकारी मिलने में कितना वक्त लगता है? यों तो नियत समय में जानकारी मिल जानी चाहिए, मगर आप गुजरात जाएं तो वहां कम से कम तीन साल का वक्त जरूर लग सकता है और वह भी तब जब आप सूचना हासिल करने के लिए राज्य के सूचना आयोग के आयुक्त का दरवाजा खटखटाने को तैयार हो जाएं।

पिछले दिनों देश के एक अग्रणी अंग्रेजी अखबार में प्रकाशित एक समाचार से यही पता चलता है। मालूम हो कि दलितों के बीच कार्यरत 'नवसर्जन ट्रस्ट' ने जुलाई 2010 में यह आवेदन डाला था कि राज्य में कितने दलित छात्रों को छात्रवृत्ति मिलती है और उसके लिए भी उसे तीन साल का इंतजार करना पड़ा और तीन साल बाद भी एक जिले- अमदाबाद- के बारे में और वह भी आइटीआइ, विज्ञान, कला, इंजीनियरिंग और मेडिकल कॉलेज में अध्ययनरत छात्रों के बारे में था, स्कूलों में अध्ययनरत दलित छात्रों के बारे में अब भी जानकारी हासिल नहीं हो सकी है।

मगर आधे-अधूरे तरीके से ही, राज्य सरकार ने जो जवाब भेजे हैं उनसे दो बातें स्पष्ट होती हैं : एक, हजारों ऐसे दलित छात्र हैं जिन्हें यह छात्रवृत्ति नहीं मिली है और दलित छात्रों के लिए आर्बिट्ररी बजट का अच्छा-खासा हिस्सा अन्य कामों में लगाया जा रहा है। उदाहरण के लिए, अकेले अमदाबाद में 3,125 छात्रों को अब भी यह छात्रवृत्ति नहीं मिली है और इस तरह कम से कम तीन करोड़ रुपए सरकार ने अन्य कामों में लगाए हैं। आरटीआइ के तहत मिली जानकारी के मुताबिक जहां 1,613 छात्रों का छात्रवृत्ति के लिए दिया गया आवेदन लटका हुआ है, वहीं कोष की कमी के नाम पर 1,512 छात्रों को छात्रवृत्ति देने से इनकार किया गया है।

मालूम हो कि योजना आयोग ने यह नियम बनाया है कि हर राज्य को दलितों की आबादी के हिसाब से उनके कल्याण के लिए बजट का एक हिस्सा आर्बिट्ररी करना होगा। अगर बजटीय प्रावधानों को पलटें तो दलितों की लगभग आठ फीसद आबादी वाले इस सूबे में यह प्रतिशत छह से भी कम बैठता है।

दलितों के साथ जारी छल बहुस्तरीय दिखता है। अब बजट में सामाजिक समरसता के नाम पर जारी एक अन्य योजना को देखें। खबर मिली कि गुजरात सरकार की तरफ से पिछले दिनों सफाई कर्मचारियों के लिए बजट में एक विशेष प्रावधान किया गया। इसके अंतर्गत बजट में लगभग 22.50 लाख रुपए का प्रावधान इसलिए

रखा गया ताकि सफाई कर्मचारियों को कर्मकांड का प्रशिक्षण दिया जा सके। वैसे इस योजना का एलान करते वक्त गुजरात सरकार इस बात को सहसा भूल गई कि यह उसकी एक पुरानी योजना का ही संशोधित रूप है, जिसके अंतर्गत अनुसूचित तबके के सदस्यों को धार्मिक कार्यों को अंजाम देने के लिए 'गुरुब्राह्मण' का प्रशिक्षण दिया जा रहा है, जिस योजना की विफलता पहले ही प्रमाणित हो चुकी है क्योंकि इसमें प्रशिक्षित लोग रोजगार की तलाश में आज भी भटक रहे हैं।

वैसे इस बात की उम्मीद करना भी बेकार है कि प्रस्तुत योजना का खाका बनाने के पहले जनाब मोदी ने वर्णाश्रम व्यवस्था के अंतर्गत दलितों को उच्चवर्णीय हिंदुओं का मैला ढोने और उन्हें ताउम्र सफाई करने के लिए मजबूर करने वाली सामाजिक प्रणाली को बेपर्दा करने वाले आंबेडकर के वक्तव्य को देखा होगा। आंबेडकर के मुताबिक 'अस्पृश्यता की प्रणाली हिंदुओं के लिए सोने की खान है। इस व्यवस्था के तहत चौबीस करोड़ हिंदुओं का मैला ढोने और सफाई करने के लिए छह करोड़ अस्पृश्यों को तैनात किया जाता है, जिन्हें ऐसा गंदा काम करने से उनका धर्म रोकता है। मगर चूंकि यह गंदा काम किया ही जाना है और फिर उसके लिए अस्पृश्यों से बेहतर कौन होगा?

बहरहाल, 'कर्मकांड प्रशिक्षण' वाली योजना का एलान जब गुजरात सरकार कर रही थी, उन्हीं दिनों सूबे की हुकूमत के दलितद्रोही रवैये को उजागर करती दो घटनाएं सामने आई थीं। पहली थी अमदाबाद से महज सौ किलोमीटर दूर धांडुका तहसील के गलसाना ग्राम के पांच सौ दलितों के कई माह से जारी सामाजिक बहिष्कार की खबर। गांव की ऊंची कही जाने वाली जातियों ने वहां बने पांच मंदिरों में से किसी में भी दलितों के प्रवेश पर पाबंदी लगा रखी थी। राज्य के सामाजिक न्याय महकमे के अधिकारियों द्वारा किए गए गांव के दौरे के बाद उनकी पूरी कोशिश इस मामले को दबाने को लेकर थी। दूसरी खबर थी थानगढ़ में दलितों के कत्लेआम के दोषी पुलिसकर्मियों की चार माह बाद गिरफ्तारी।

मालूम हो कि सितंबर में गुजरात के सुरेंद्रनगर के थानगढ़ में पुलिस द्वारा दलितों पर तब गोलीचालन किया गया था, जब वे इलाके में थानगढ़ नगरपालिका द्वारा आयोजित मेले में दुकानों की नीलामी में उनके साथ हुए भेदभाव का विरोध कर रहे थे। इलाके की पिछड़ी जाति भारवाडों ने एक दलित युवक की पिटाई की थी, जिसको लेकर उन्होंने पुलिस में शिकायत दर्ज कराई थी।

इस शिकायत पर कार्रवाई करने के बजाय पुलिस ने

टालमटोल का रवैया अख्तियार किया और जब दलित उग्र हो उठे तो उन पर गोलियां चलाई गईं, जिसमें तीन दलित युवाओं की मौत हुई थी। याद रहे दलितों के इस संहार को अंजाम देने वाले सब इंस्पेक्टर केपी जाडेजा को बचाने की पुलिस महकमे ने पूरी कोशिश की थी, दलितों के खिलाफ दंगा करने के मामले भी दर्ज किए गए। अंततः जब दलितों ने अदालत का दरवाजा खटखटाया तभी चार माह से फरार चल रहे तीनों पुलिसकर्मी सलाखों के पीछे भेजे जा सके थे।

वर्ष 2007 में मोदी की एक किताब 'कर्मयोग' का प्रकाशन हुआ था। आइएएस अधिकारियों के चिंतन शिविरों में दिए मोदी के व्याख्यानों का संकलन इसमें किया गया था। यहां उन्होंने दूसरों का मल ढोने और पाखाना साफ करने के वाल्मीकि समुदाय के 'पेशे' को 'आध्यात्मिकता के अनुभव' के तौर पर संबोधित किया था। उनका कहना था कि "मैं नहीं मानता कि वे इस काम को महज जीवनयापन के लिए कर रहे हैं। अगर ऐसा होता तो उन्होंने पीढ़ी दर पीढ़ी इस काम को नहीं किया होता... किसी वक्त उन्हें यह प्रबोधन हुआ होगा कि वाल्मीकि समुदाय का काम है कि समूचे समाज की खुशी के लिए काम करना, यह काम उन्हें भगवान ने सौंपा है; और सफाई का यह काम आंतरिक आध्यात्मिक गतिविधि के तौर पर जारी रहना चाहिए। इस बात पर यकीन नहीं किया जा सकता कि उनके पूर्वजों के पास अन्य कोई उद्यम करने का विकल्प नहीं रहा होगा।" गौरतलब है कि जातिप्रथा और वर्णाश्रम की अमानवीयता को औचित्य प्रदान करने वाला उपरोक्त संविधानद्रोही वक्तव्य टाइम्स ऑफ इंडिया में नवंबर मध्य, 2007 में प्रकाशित भी हुआ था।

चूंकि गुजरात के अंदर दलितों का एक हिस्सा मोदी के अल्पसंख्यक-विरोधी हिंदुत्व-एजेंडे का टिंडोरची बना हुआ है, इसलिए वहां पर इसकी कोई प्रतिक्रिया सामने नहीं आई, मगर जब तमिलनाडु में यह समाचार छपा तो वहां दलितों ने इस बात के खिलाफ उग्र प्रदर्शन किए। उन्होंने मैला ढोने को 'आध्यात्मिक अनुभव' की संज्ञा दिए जाने को मानवद्रोही वक्तव्य कहा। उन्होंने जगह-जगह मोदी के पुतलों का दहन किया। अपनी वर्ण-मानसिकता उजागर होने के खतरे को देखते हुए मोदी ने इस किताब की पांच हजार प्रतियां बाज़ार से वापस मंगवा लीं, मगर अपनी राय नहीं बदली।

प्रस्तुत प्रसंग के दो साल बाद सफाई कर्मचारियों की एक सभा को संबोधित करते हुए मोदी ने सफाई कर्मचारियों के काम को मंदिर के पुरोहित के काम के समकक्ष रखा था। उन्होंने कहा "जिस तरह पूजा के पहले पुजारी मंदिर को साफ करता है, आप भी मंदिर की ही तरह शहर को साफ करते हैं।" अपने वक्तव्य में मानवाधिकार कर्मी लिखते हैं कि अगर मोदी सफाई कर्मचारियों को इतना सम्मान देते हैं तो उन्होंने इस काम को तीन हजार रुपए की मामूली तनखाह पर ठेके पर देना क्यों शुरू किया है? क्यों नहीं इन 'पुजारियों' को

स्थायी आधार पर नौकरियां दी जातीं?

मनुवादी वक्तव्य देने वाले मोदी आखिर कैसे यह समझ पाएंगे कि गटर में काम करने वाला आदमी किसी आध्यात्मिक कार्य को अंजाम नहीं दे रहा होता, वह अपने पेट की आग बुझाने के लिए अपनी जान जोखिम में डालता रहता है।

दलितों-आदिवासियों पर अत्याचार की रोकथाम के लिए बने प्रभावशाली कानून 'अनुसूचित जाति और जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989 के अंतर्गत इलाके के पुलिस अधीक्षक की जिम्मेदारी बनती है कि वह अनुसूचित तबके पर हुए अत्याचार की जांच के लिए कम से कम पुलिस उपाधीक्षक स्तर के अधिकारी को तैनात करे। दलितों-आदिवासियों पर अत्याचार के मामलों में न्याय दिलाने में गुजरात फिसड्डी राज्यों में से एक है, जिसकी जड़ में मोदी सरकार की नीतियां हैं।

सोलह अप्रैल 2004 को गुजरात विधानसभा में एक प्रश्न के जवाब में मोदी ने कहा था कि "इस अधिनियम के नियम 7 (1) के अंतर्गत पुलिस उपाधीक्षक स्तर तक के अधिकारी की तैनाती की बात कही गई है और जिसके लिए पुलिस अधीक्षक की कोई जिम्मेदारी नहीं बनती।" इसके मायने यही निकलते हैं कि वह पुलिस सब इंस्पेक्टर या इंस्पेक्टर हो सकता है।

याद रहे कि इसी लापरवाही के चलते, जिसमें दलित-आदिवासियों पर अत्याचार का मामला पुलिस सब इंस्पेक्टर को सौंपा गया, तमाम मामले अदालत में खारिज होते हैं। गुजरात के सेंटर फॉर सोशल जस्टिस ने डेढ़ सौ मामलों का अध्ययन कर बताया था कि ऐसे पंचानवे फीसद मामलों में अभियुक्त सिर्फ इसी वजह से छूटे हैं क्योंकि अधिकारियों ने मुकदमा दर्ज करने में, जाति प्रमाणपत्र जमा करने में लापरवाही बरती। कई सारे ऐसे मामलों में जहां अभियुक्तों को भारतीय दंड विधान के अंतर्गत दंडित किया गया, मगर अत्याचार के मामले में वे बेदाग छूटे।

पिछले दिनों जब गुजरात में पंचायत चुनाव संपन्न हो रहे थे तो नाथु वाडला नामक गांव सुर्खियों में आया, जिसकी आबादी बमुश्किल एक हजार थी। लगभग सौ दलितों की आबादी वाले इस गांव के चुनाव 2001 की जनगणना के आधार पर होने वाले थे, जिसमें दलितों की आबादी शून्य दिखाई गई थी। लाजिमी था कि पंचायत में एक भी सीट आरक्षित नहीं रखी गई थी। इलाके के दलितों ने इस अन्याय के खिलाफ आवाज बुलंद की, वे मोदी सरकार के नुमाइंदों से भी मिले; मगर किसी के कान पर जूं नहीं रेंगी। अंततः गुजरात उच्च न्यायालय ने जनतंत्र के इस मखौल के खिलाफ हस्तक्षेप कर चुनाव पर स्थगनादेश जारी किया।

भीमराव आंबेडकर की जयंती के अवसर पर मोदी सरकार की तरफ से गुजरात के तमाम समाचार पत्रों में पूरे पेज के विज्ञापन छपे और यह प्रचारित किया गया कि किस तरह उनकी सरकार दलितों के कल्याण के लिए समर्पित है। यह अलग बात है कि इसकी असलियत उजागर होने में अधिक वक्त नहीं लगा।

## प्रकृति के साथ इंसानी खिलवाड़

■ सुरेन्द्र रावत

एक तरफ बर्बाद बस्तियाँ - एक तरफ हो तुम।  
एक तरफ डूबती कश्तियाँ - एक तरफ हो तुम।  
एक तरफ हैं सूखी नदियाँ - एक तरफ हो तुम।  
एक तरफ है प्यासी दुनियाँ - एक तरफ हो तुम

अजी वाह! क्या बात तुम्हारी,  
तुम तो पानी के ब्योपारी,  
खेल तुम्हारा, तुम्हीं खिलाड़ी,  
बिछी हुई ये बिसात तुम्हारी,

सारा पानी चूस रहे हो,  
नदी-समन्दर लूट रहे हो,  
गंगा-यमुना की छाती पर  
कंकड़-पत्थर कूट रहे हो,

उफ!! तुम्हारी ये खुदगर्जी,  
चलेगी कब तक ये मनमर्जी,  
जिस दिन डोलेगी ये धरती,  
सर से निकलेगी सब मस्ती,

महल-चौबारे बह जायेंगे  
खाली रौखड़ रह जायेंगे  
बूँद-बूँद को तरसोगे जब  
बोल ब्योपारी - तब क्या होगा?  
नगद-उधारी - तब क्या होगा??

आज भले ही मौज उड़ा लो,  
नदियों को प्यासा तड़पा लो,  
गंगा को कीचड़ कर डालो,

लेकिन डोलेगी जब धरती - बोल ब्योपारी - तब क्या होगा?  
वर्ल्ड बैंक के टोकनधारी - तब क्या होगा?  
योजनकारी - तब क्या होगा?  
नगद-उधारी तब क्या होगा?  
एक तरफ हैं सूखी नदियाँ - एक तरफ हो तुम।  
एक तरफ है प्यासी दुनियाँ - एक तरफ हो तुम।

उत्तराखंड के जनकवि गिर्दा की दूरअंदेशी से परिपूर्ण यह कविता “इस ब्योपारी को प्यास बहुत है” पढ़कर ऐसा लगता है कि भीषण आपदा के संदर्भ में गिर्दा की नज़रें जैसे भविष्य के सैलाब का बांध तोड़ गयी हों। काश कि गिर्दा की दूरअंदेशी व अनुभव की बात जो अनसुनी रह गई समय रहते सुन ली जाती तो नदी जो एक बहती जीवनधार है, यूँ जटाओं से उन्मुक्त हो भीषण त्रासदी न लाती।

रुद्रप्रयाग (जहाँ केदारनाथ धाम स्थित है) की दास्तान देखें तो 34 सालों में मानसून संबंधी 8 बड़ी आपदाएं यहां आ चुकी हैं। ये तो महज़ एक जिले का आंकड़ा है। यदि मौसम के बदलते मिज़ाज के मद्देनज़र परतें उतारी जाएं तो उत्तराखंड के संदर्भ में ऐसी भयावह तस्वीरें हमारे सामने पेश होंगी जिसके बारे में हमने सोचा भी नहीं होगा। जिस उत्तराखंड में आधी सदी पूर्वार्ध ऐसी आपदाएं 10-12 साल में एकाध बार सुनने को मिलती थी, वहीं ऐसी घटनाओं के आंकड़ों में अब साल-दर-साल इज़ाफ़ा होता जा रहा है।

हालिया आपदा की बात करें तो हजारों मौतों और हजारों लापता लोगों के बीच मौसमी चेतावनियों की अनदेखी, आपदा प्रबंधन की विफलता, मुनाफ़ाखोर पर्यटन संस्कृति को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष तौर पर बढ़ावा और पर्यावरण से अलगाव ये चार मुख्य बिंदु हैं जिनके इर्द-गिर्द सारी त्रासदी चक्कर काट रही है।

यूँ पहली नज़र ये आपदा प्राकृतिक नज़र आती है और है भी लेकिन उसकी तह में जाने पर इंसान की प्रकृति से छेड़खानी की भूमिका इसमें स्पष्ट दिखाई देती है। सरकारों द्वारा अपनाई जा रही विकास की एकतरफ़ा सोच, प्रकृति में बेतहाशा व बेतरतीब हस्तक्षेप जिसके लिए विस्फोटों का सहारा, सुरंगों का निर्माण, नदियों का रुख मोड़ा जाना, जंगलों का विनाश इसके सबसे बड़े कारण हैं। इनके अलावा इसमें देशी-विदेशी कंपनियों को जल, जंगल, ज़मीन और खनिज संपदा को उलीचने का अधिकार और कब्ज़ा भी शामिल है जोकि इन संसाधनों का दोहन प्रस्तावित शर्तों की धज्जियां उड़ाते हुए अपने हित में अपने तरीके से करते हैं। साथ ही अनियंत्रित और अनियोजित तरीके से बढ़ता शहरीकरण भी विनाशलीला को बढ़ाने वाला सिद्ध हुआ है क्योंकि अंततः अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वह प्रकृति पर ही



निर्भर करता है।

इसके अलावा एक खास बात जो पूरे उत्तराखंड में जंगलों के बदलते स्वरूप से है, जिसकी शुरुआत ब्रिटिश काल में हो गई थी लेकिन इसे बहुत गंभीरता से नहीं लिया गया क्योंकि मामला वन कटान का नहीं था और इस बाबत सच तो यह है कि अर्ध-व्यावसायिक हो चुका वन-विभाग भी इस ओर से मुंह फेरे खड़ा रहा।

जंगलों के इस बदलते स्वरूप में चीड़ के वृक्षारोपण को व्यावसायिकता की दृष्टि से महत्व दिए जाने के कारण बांज (औक) व इसकी विभिन्न प्रजातियों (तिलौंज, रियांज व खरसू आदि) के वन सीमित क्षेत्र में रह जाना और चीड़ के पेड़ों की तादाद का बढ़ना है। चूंकि बांज के पेड़ के कारण उसके आस-पास झाड़ियां, लताएं और घास का एक प्रचुर सांचा अस्तित्व में आता है, जिसके कारण भी बांज की पत्तियों में भी बड़ी वृद्धि होती है और अंततः एक ऐसा वन तैयार होता है जिसमें करीब सारा वर्षा जल समा जाता है। जिससे जलस्रोतों में सतत प्रवाह बना रहता है। शेष बचा पानी वाष्पित हो जाता है और कुछ ढलान से लुढ़क जाता है। बांज की लंबी व विस्तृत क्षेत्र में फैली जड़ें मिट्टी को जकड़े रहती हैं, जिससे भू-कटाव नहीं होता। इसके विपरीत, चीड़ के पेड़ बिल्कुल उलटा प्रभाव डालते हैं। इसकी पत्तियों के कारण एक समतल, सूखी ज़मीन तैयार होती है जो कुछ भी नहीं सोखती और ज़मीन के अंदर भी कोई नई शक्ति नहीं पनपती। दरअसल, यह देखा गया है कि अक्सर चीड़ के पेड़ों की ज़मीन मरुभूमि जैसी सूखी होती है। दूसरे जब जंगल में चीड़ के पेड़ों की तादाद बढ़ती है, और बढ़ने के बाद उसकी वन लताएं जमींदोज़ होती हैं तो उससे अन्य पेड़ मरने लगते हैं।

उत्तराखंड के जंगल जो विशेषकर पहाड़ी क्षेत्र के लोगों के लिए एक जीवन-शैली है। उस जीवन-शैली में आधुनिक सोच के तहत संयुक्त वन प्रबंधन जैसे आधारहीन कार्यक्रमों को बढ़ावा दिया जा रहा है और इसी क्रम में वन सुरक्षा समितियां, इको विकास समितियां आदि के मार्फत 'जन भागीदारी से वन संरक्षण' का खोखला नारा बुलंद किया जा रहा है और ऐसी सोच विकसित की जा रही है कि जंगल बचाना मात्र लाभ के लिए लोगों को याद रहे। वन संरक्षण में स्थानीय लोगों का दृष्टिकोण काफी महत्वपूर्ण है, जिस पर न तो अमल किया जा रहा है और न ही उसे मान्यता दी जा रही है। इसीलिए इन जैसे कार्यक्रमों से जहां एक ओर

स्थानीय लोगों व प्रशासन के बीच तनाव बढ़ा वहीं दूसरी ओर इसके कई उल्टे परिणाम भी सामने आए। क्योंकि लाभ के मद्देनजर जिस तरह के वनों को ऐसे कार्यक्रमों के तहत बढ़ावा दिया जा रहा है वे न तो स्थानीय लोगों के लिए उपयोगी हैं और न ही उनकी मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। साथ ही पर्यावरणीय दृष्टि से भी क्षेत्र विशेष के लिए उपयोगी नहीं हैं।

**उत्तराखंड की पहाड़ी राज्य की संकल्पना आज धूल खा रही है। विकास अपनी रौद्रता में पहाड़ी चट्टानों को गिरा रहा है। लोग सहमे हुए हैं, हैरान परेशान हैं और कभी अभिभूत रह जाते हैं। विकास का चक्र है ही ऐसा।**

इस त्रासदी ने एक बात को पुनः स्थापित कर दिया है कि जल-जंगल-ज़मीन तीनों आज की तारीख में ज्वलंत सवाल हैं। सभी पूरक हैं एक दूसरे के और प्राथमिक हैं।

एक के बिना दूसरे का कोई अस्तित्व नहीं। इसलिए विकास जो वर्तमान में एक सवालिया निशान बन गया है उस संदर्भ में विकास की कीमत को समझना होगा। उत्तराखंड के पुनर्निर्माण के लिए विश्व बैंक से उत्तराखंड को विशेष राज्य का दर्जा प्राप्त होने के कारण केंद्र सरकार के मार्फत जो 90 प्रतिशत अनुदान व 10 प्रतिशत ऋण के रूप में मिलेगा उस पर भी पुनः विचार होना चाहिए। क्योंकि जिस विश्व बैंक के दस्तावेजों के अनुसार "पानी अब किसी का अधिकार नहीं रहा, यह एक वस्तु है जिसका सटीक प्रबंधन होना चाहिए", क्या वह विश्व बैंक उत्तराखंड को अपनी नीतियों के तहत बिना किसी शर्त या अनुबंध के यह राशि उपलब्ध कराएगा? साथ ही पर्यावरण संबंधी बातों को सिर्फ विकास विरोधी बातें कह देने मात्र से इस ज़िम्मेदारी से मुक्त नहीं हुआ जा सकता!

उत्तराखंड जहां वर्तमान में 14 नदी घाटियों में 220 से ज्यादा छोटी-बड़ी परियोजनाएं (सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायरमेंट की निदेशक सुनीता नारायण के मुताबिक कुल जमा 558 छोटी-बड़ी हाइड्रोइलेक्ट्रिक पावर परियोजनाएं पाइपलाइन में हैं जो भागीरथी को करीब 80 प्रतिशत और अलकनंदा को 65 प्रतिशत तक प्रभावित करेंगी) चल रही हैं। जिनमें खनन हेतु लैंड माइंस का प्रयोग किया जाता है और नतीजतन बारिश के दिनों में भारी मात्रा में बढ़ता भूस्खलन देखने को मिलता है। परियोजना चलाने वाली कंपनियां नदी में ही खनन का मलबा डालती हैं। जिससे नदी का तल लगातार ऊंचा उठता जाता है। बारिश के दिनों में यही ऊंचा तल विनाशकारी साबित होता है। इतना ही नहीं इन परियोजनाओं के लिए बड़ी संख्या में पेड़ काटे जाते हैं। इसकी वजह से पानी के प्राकृतिक स्रोत नौले-धारे सूखते जा रहे हैं और

शेष पृष्ठ 11 पर

### इस 'शिकारी' समय में

■ अंजलि सिन्हा

बच्चियों के साथ बलात्कार एवं वहशियाना हरकत की खबरें इन दिनों देश और समाज में चिंता का विषय बनी हैं। इन

सभी मामलों में छिटपुट कार्रवाई तथा अफसोस जताने के अलावा ऐसा कोई ठोस तथा दूरगामी असर वाला कदम नहीं उठाया गया ताकि बच्चियों का विकास सुरक्षित वातावरण में हो सके।

जब दिल्ली और आसपास की कुछ घटनाएं तथा दिल दहलाने वाले कृत्य सुर्खियां बने, घटना के खिलाफ लोग सड़कों पर उतरे, तब समस्या की गंभीरता का एहसास हुआ है। दिल्ली के गांधीनगर की घटना में अत्याचार की शिकार 5 साल की बच्ची का एम्स अस्पताल में इलाज चल रहा है। ऐसी ही खबरें मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, बिहार, राजस्थान तथा अन्य राज्यों से भी रोज-ब-रोज आ रही हैं।

मध्यप्रदेश के दतिया तथा सिवनी से खबर आयी कि वहां भी 5 साल की एक बच्ची बलात्कार के कारण मौत से जूझ रही है, तो 7 साल की बच्ची की घटना के बाद हत्या कर दी गयी। खरगौन में 8 साल की बच्ची को फुफेरे भाई ने बलात्कार के बाद गट्टे के पानी में डुबो कर मार दिया। बाद में उसकी लाश बरामद हुई।

इन सभी घटनाओं में मासूम बच्चियों को जिन्हें न तो यौनिक हिंसा के बारे में कुछ पता है, न ही वे अपना बचाव करना जानती हैं, टारगेट किया गया है। इन्हें किसी तरह बहला फुसला कर या अगवा करके हवस का शिकार बना कर या तो जान से मार दिया गया है या घायल कर फेंक दिया गया है।

हम सब कैसे करें इन बच्चियों की पहरेदारी? घर-समाज के ही असामाजिक तत्वों से कैसे बचाएं इन्हें? पड़ोसी से, स्कूल से, खेलने-कूदने वाली जगहों से, हम कहां-कहां उन्हें महफूज रख पायेंगे? आशंका है कि कहीं उनका सारा बचपन ही भय में न बीते। माता-पिता के मन के डर का साया आखिर इन अबोध बालिकाओं के ऊपर भी चाहे अनचाहे पड़ेगा ही जो कि उनके विकास के लिए बाधक बन सकता है। इनके बाहर आने-जाने, खेलने-कूदने पर प्रतिबंध लगेगा।

एक ताजा रिपोर्ट के मुताबिक विगत दस वर्षों में बच्चियों पर बलात्कार की घटनाओं में तीन गुना से अधिक की बढ़ोतरी हुई है। ये आंकड़े दर्ज मामलों पर आधारित हैं। यह एक मान्य

**आज लगभग हर घर में टीवी है। गलाकाट प्रतियोगिता के दौर में बाजार का बड़ा नेटवर्क भी तैयार है। यहां भी युवा यौन कुंठा पालना सीख जाता है। शिकार तलाशना सीखता है।**

तथ्य है कि ऐसे बहुसंख्य मामले दर्ज ही नहीं किये जाते। गौर करने लायक यह भी है कि बलात्कार के अधिकतर

आरोपितों की उम्र भी 20 से 24 वर्ष की है। सोचने का मुद्दा यह है कि आखिर पढ़ लिख कर अपना भविष्य संवारने के बजाय ये नौजवान अपराधी क्यों बनने लगे? क्यों इनमें इतनी गहरी पैठी है यौनिक कुंठाएं?

क्या ऐसे लोगों की मानसिकता एक दिन में बनती है? इनसान की मानसिकता धीरे-धीरे तैयार होती है। ये अपराधी बड़े होने के साथ ही तरह-तरह के यौन व्यवहार की कल्पनाएं करने लगते हैं, जो वे अपने बड़ों की बातचीत, व्यवहार, गाली-गलौच में इस्तेमाल किये गये शब्दों, हंसी-मजाक के मुद्दों आदि में सुनते-देखते हैं। आज बहुत कम घर ऐसे होंगे जहां टीवी न हो। इस गलाकाट प्रतियोगिता के दौर में बाजार का बड़ा नेटवर्क भी तैयार है। यहां भी युवा यौन कुंठा पालना सीख जाता है। शिकार तलाशना सीखता है।

सवाल सिर्फ कानून को सख्त बना देने का नहीं है। वह तो होना ही चाहिए और जो भी कानून है वह लागू भी होना ज़रूरी है, लेकिन कानून और उसकी सख्ती का सवाल तो घटना घटने के बाद आता है। इससे पहले बचाव के उपाय होते हैं, ताकि घटना घटे ही नहीं। इसमें सरकारी और प्रशासनिक चुस्ती के साथ स्वस्थ समाज निर्माण के दूरगामी लक्ष्य को भी साधना होगा। अपराधी अपराध करते समय सजा पर विचार नहीं करता। इसलिए सजा कैसी हो इससे ज्यादा ज़रूरी है कि उसका पकड़ा जाना सुनिश्चित हो।

बच्चे सुरक्षित रहें यह गारंटी करना बड़ों का काम है। इसके लिए तात्कालिक तथा दूरगामी असर वाला दोनों ही प्रयास करना होगा। अपराधी तत्वों पर कानूनी शिकंजा कसने के साथ ही यह समझना होगा कि ऐसी अपराधी प्रवृत्तियां क्यों जन्मती हैं, उन्हें कहां से खाद-पानी मिलता है? मूल कारणों पर गंभीर विचार-विमर्श-शोध-अध्ययन के साथ ही उसे जड़ से नेस्तनाबूद करने की योजना भी सरकार और समाज दोनों को मिलकर बनानी पड़ेगी।

हम ऐसे अपराधियों को मानसिक बीमार मान कर छोड़ नहीं सकते। ऐसा करके हम ऐसे 'बीमारों' की संख्या बढ़ते

जाने से रोक नहीं पायेंगे। ऐसी मानसिकता किसी टापू पर या हवा में नहीं बनती है। ऐसे घर-परिवारों का भी विश्लेषण किया जाना चाहिए कि उन्होंने अपने बच्चों की परवरिश कैसे की है। हमारे पालन-पोषण और पूरी तैयारी की प्रक्रिया में ही कहीं कोई पेंच है जो लड़कों को शिकारी बनना सिखा रहा है।

शिकार, जंगल के जानवरों का नहीं बल्कि अपने घर-आंगन में साथ-साथ पलने वालियों से लेकर गांव मुहल्ले तक या कहीं और से आने वाली अनजान लड़कियों का- कोई भी चपेट में आ सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि घर के अंदर ही तो कहीं इन युवकों का मानसिक विकास नहीं किया जा रहा! समाज में विभिन्न तरह से हिंसक बनने के लिए प्रशिक्षण मिल रहा है तथा उर्वरक सामग्री परोसी जा रही है।

ये बच्चे जिन टीवी प्रोग्रामों, प्रचारों आदि को देख कर बड़े हो रहे हैं, वे जो सिखाते हैं उनके बारे में कई बार लिखा जा चुका है। ऐसा नहीं है कि ये सामग्री परोसने वाले इससे अनजान हैं, लेकिन लगता है कि लोग सब कुछ जान-समझ कर भी अनजान और बेबस दोनों हैं। समाज में मौजूद दूसरी बर्बरताएं तथा गैर-बराबरियां भी इसकी ज़मीन तैयार करती हैं।

जिस घर में बच्चे शुरू से यह देखते हैं कि औरत प्रताड़ित हैं या गैरबराबरी की शिकार हैं, घर की लड़कियों पर तरह-तरह के प्रतिबंध हैं, वे यह मानने लगते हैं कि ऐसा करना सही और स्वीकृत है। लड़कियों के हकों या उन पर लगाये गये प्रतिबंधों को जायज माना जाता है। उनसे कहा जाता है कि उन पर नियंत्रण या बंधन इसलिए है ताकि उनके साथ कोई 'अश्लीलता' न की जाये। ऐसी संभावनाओं को लोग स्वीकार किये रहते हैं।

ताजा समाचार है कि दिल्ली से सटे यूपी के लोनी इलाके की एक 13 साल की लड़की के साथ चार या पांच लड़कों ने छेड़खानी और बलात्कार किया। लड़की ने घर लौट कर बिना किसी को कुछ बताये कमरे में जा कर खुद को खत्म कर डाला। किसी न किसी रूप में किसी न किसी कोने से खबरें आये दिन सब तक पहुंच रही हैं। इन पर काबू पाने, इन पर सख्ती करने, इन्हें तत्काल दंडित करने के साथ ही हर घर और मां बाप को भी सोचना होगा कि बच्चे ऐसे क्यों बन रहे हैं, उन्हें सही सोच में क्यों नहीं ढाला जा रहा है? क्या कोई बेहतर उद्देश्य बच्चों के सामने पेश करने में समाज भी फेल हो गया है?

## प्रकृति के साथ इंसानी खिलवाड़

पृष्ठ 9 का शेष

पहाड़ों पर मिट्टी की पकड़ लगातार कमजोर होती जा रही है। बारिश के दिनों में भूस्खलन की समस्याओं की सबसे बड़ी वजह यही है। विशेषज्ञों के मुताबिक 2011-12 में उत्तरकाशी में आई आपदा की तीव्रता को बढ़ाने में कालिंदी गाड़ और असिगंगा पर बन रही जलविद्युत परियोजनाओं ने अहम भूमिका अदा की थी।

बावजूद इसके पूर्व और मौजूदा सरकारें बांध विरोधी बातें सुनने को तैयार नहीं हैं। क्योंकि दल बदलते हैं नीतियां नहीं। दूसरे इन राजनीतिक दलों के लिए यह परियोजनाएं अपना पाटी फंड भरने के लिए भी बेहद कारगर साबित हुई हैं। बीते 12 सालों में प्रदेश में चाहे जिसकी भी सरकार रही हो, इन परियोजनाओं की तादाद लगातार बढ़ती गई है। और अगर ये सभी परियोजनाएं लागू हो जाती हैं तो उत्तराखंड में लगभग 1500 किलोमीटर की सुरंगें निकलेंगी और एक अनुमान के अनुसार लगभग 28 लाख की आबादी इन सुरंगों के ऊपर होगी। इसके अलावा इससे होने वाले विस्थापन, पर्यावरणीय और भूगर्भीय खतरों की बात अलग है।

अब जबकि दुनियाभर के विकसित देशों ने बड़े बांधों के नफे-नुकसान को बेहतर तरीके से जान-समझ लिया है,

उन देशों ने बड़े बांध बनाना न सिर्फ बंद किया है बल्कि इको सिस्टम को फिर से संतुलित करने के लिए बड़े बांधों को नियमबद्ध रूप से तोड़ा भी जा रहा है। इसके उलट हमारी सरकारें विपरीत दिशा अख्तियार किए हुए हैं और बाजारवाद से जुड़े विकास के मॉडल को सर माथे लगाए। अपने एजेंडे के लिए बांध निर्माण कंपनियों के साथ मिलकर जनता बनाम जनता अर्थात् पर्यावरणीय नज़रिए से संतुलित विकास के पक्ष में लोगों की आवाज़ को विकास विरोधी करार देकर एक नई जमात खड़ी कर रहे हैं जिसकी आग में उत्तराखंड धीरे-धीरे सुलगने लगा है और पर्यावरणीय चेतना से शून्य उत्तराखंड के नीति-नियंता उस आग पर अपनी रोटी सेंकते नज़र आ रहे हैं विकास के उसी असंतुलित मॉडल के साथ।

**और अंत में...**

हिमालय मात्र उत्तराखंड की या अन्य हिमालय अंचलों की संपत्ति नहीं है। ये तो विश्व की निधि है। हिमालय के लिए तो एक नीति बनानी चाहिए। जिस नीति के तहत हिमालय को सुरक्षित रखना दुनिया के लिए ज़रूरी है। ये सिर्फ हमारे लिए ज़रूरी नहीं है, हिंदुस्तानी के लिए ज़रूरी नहीं है, एशियाई के लिए ज़रूरी नहीं है। बल्कि पूरे हिमालय बेल्ट के लिए एक सोच होनी चाहिए।

-प्रसिद्ध रंगकर्मी व जनकवि गिरीश तिवारी 'गिर्दा'

कुली कुतुबशाह और भागमती की प्रेमकथा

### मासूम मुहब्बत की अजीम तकदीर

■ कुमार नरेन्द्र सिंह

यह बात सभी जानते हैं कि मुगल बादशाह शाहजहां ने अपनी महबूबा के प्यार में ताजमहल तामीर की। दुनिया के सामने ताजमहल मुहब्बत की निशानी के रूप में आज भी बुलंद रूप से खड़ा है। दुनियाभर के लोग इसे देखने आते हैं, प्रेमी दिलों का सकून है ये। लेकिन क्या आप जानते हैं कि हिंदुस्तान में एक और भी बादशाह हुआ था, जिसने एक नाजनी की मुहब्बत में एक मुकम्मल शहर ही बसा दिया था? शायद ज्यादा लोग इस बात को नहीं जानते होंगे, जबकि वह शहर अपनी पूरी जवानी और रवानी में आज भी मौजूद है। वह शहर है हैदराबाद, जिसे कुतुबशाही या शाह वंश के पांचवे बादशाह कुली कुतुब शाह ने अपनी माशूका को तोहफा देने के लिए बसाया था। लेकिन उसकी महबूबा तो एक हिंदू थी, फिर हैदराबाद नाम कैसे पड़ा, इसकी कहानी बड़ी दिलचस्प है।

गोलकुंडा के बादशाह इब्राहिम शाह के वलीअहद शहजादे कुली कुतुब शाह की तबीयत उस दिन रंज थी। किसी काम में उनका मन नहीं लग पा रहा था। महल में वह इधर-उधर टहल रहा था, लेकिन जब घुटन अधिक बढ़ गई, तो वह महल से बाहर निकल कर अपने खास घोड़े पर सवार हो गया और कुछ चुनिंदा सिपाहियों को लेकर गोलकुंडा के किले से बाहर निकल आया। बेमतलब घूमते हुए वह गोलकुंडा किले से लगभग 10 मील दूर निकल आया। हवाखोरी के दौरान ही एक जगह की मनोरम सुंदरता ने उसका मन मोह लिया। वह घोड़ा रोक कर उस दृश्य को निहारने लगा। इस बीच उसके साथी काफी दूर निकल गए। जीभर देख लेने के बाद जब चलने के लिए उसने घोड़े की बाग फेरी, तो देखा कि उसके साथी उसे छोड़कर जा चुके हैं। वैसे इसमें सैनिकों का कोई कुसूर नहीं था, क्योंकि कुतुब शाह ने ही उन्हें आगे चलने के लिए कहा था। कुली कुतुब शाह ने बागडोर ढीली कर घोड़े को एड़ लगाई। घोड़ा सरपट दौड़ने लगा। अभी वह थोड़ी ही दूर गया था कि अचानक त्रिपुर सुंदरी की सुंदरता से सरोबार एक नवयौवना झाड़ी से निकल कर राह पर आ गई। दरअसल, वह सिपाहियों को देखकर झाड़ियों के पीछे छुप गयी थी और जब वे वहां से निकल गए, तो राह पर आ गई थी।

अचानक बाधा देखकर घोड़ा जोर से हिनहिनाया और रुकने की कोशिश में सवार सहित गिरते-गिरते बचा। कुतुब शाह गुस्से से भर गया। उसने युवती की ओर गुस्से से देखा, लेकिन यह क्या, वह तो उसे एकटक देखता ही रह गया, जैसे स्तब्ध हो। उसका गुस्सा न जाने कहां काफूर हो गया और उसके चेहरे पर विस्मय का भाव पसर गया। कुली कुतुब शाह ने यूं तो हज़ारों सुंदरियां देखी थीं। न जाने कितनी ईरानी, तूरानी और कश्मीरी हसीनाएं उसके पहलू में आ चुकी थीं, लेकिन ऐसे नूरानी चेहरे की तो उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी। खास बात तो यह थी कि उस युवती ने कोई श्रृंगार भी नहीं किया था। उसके शरीर पर तो सिर्फ श्वेत साड़ी लिपटी थी। दरअसल, वह पहाड़ी पर बने मंदिर में पूजा करने जा रही थी। उसके एक हाथ में पूजा की थाली थी और दूसरे हाथ से वह अपनी साड़ी संभालने की जुगत कर रही थी। उसकी यह मासूमियत कुतुब शाह को भा गई। उसने देखा कि युवती के खुले बाल नागिन की तरह लहरा रहे हैं। उसका दिल उसके गेसुओं में उलझ गया। उसने यह भी गौर किया कि युवती भी उसे देखे जा रही है। दोनों काफी देर तक एक-दूसरे को देखते रहे, फिर युवती मंदिर की ओर बढ़ चली। कुतुब शाह भी अनमना-सा अपनी राह पर आगे बढ़ गया, लेकिन वह बार-बार मुड़-मुड़कर देखते भी जा रहा था। उसका दिल उसके हाथों से निकल चुका था। कुतुब शाह पहली नज़र में ही घायल हो गया। अब उसका दिल उसका नहीं रहा, उस पर उस युवती का अधिकार हो गया। यही हाल उस युवती का भी था। यह बात 1579 की है।

उस नवयौवना का नाम था भागमती और वह गोलकुंडा के बगल के एक गांव चिचलाम की रहने वाली थी। अभी वह कुल 17 साल की ही तो थी, लेकिन उसके रूप-गुण की चर्चा दूर-दूर तक थी। इलाके की सुंदरियां जहां उसके रूप-गुण से ईर्ष्या करती थीं, वहीं नवयुवक उसे अपना बनाने का ख्वाब देखते थे। उसकी खूबसूरती देखकर आदमी तो आदमी, पेड़-पौधे भी झूमने लगते थे। उसकी हंसी से फूल खिल उठते और उसकी देहगंध वातावरण में मदहोशी का रस घोलती थी। उसकी चाल देखकर हंस भी शरमा जाते और

अनारदाने जैसी उसकी धवल दंत पंक्तियां मोती को भी मात देती थीं। उसकी बलखाती पतली कमर स्वयं में एक नृत्य थी। वह जितनी खूबसूरत थी, उतनी ही सुंदर उसकी आवाज़ थी। उसके गले में वह कशिश थी, जो बड़े-बड़े गवैयों को उसका मुरीद बना देती थी। जब वह तान लेती, तो आसमान झुक आता और पत्थर पिघलने लगते। नृत्य में तो वह इतनी निपुण थी कि उर्वशी को भी रक्षक होता और उसकी कमनीय काया की लोच लवंग की बेलों से खिलवाड़ करती नज़र आती। इतना कुछ होने के बावजूद उसे कोई गुमान नहीं था। लेकिन अब वह कुतुब शाह की मुहब्बत भरी नज़रों से घायल थी और उस जवांमर्द की कायल भी।

कुली कुतुब शाह अपने सिपाहियों के साथ अपने महल में वापस तो लौट आया, लेकिन बेजान, जैसे उसका सब कुछ लुट चुका हो और यह सारी कायनात एक उजाड़ बियावान हो। कुली कुतुब शाह को यूं तो गीत और नृत्य से बेपनाह लगाव था, लेकिन अब वे उसे काटने दौड़ते। कल तक जिस नृत्य-गीत पर वह जान छिड़कता था, अब वे उसे रसहीन लगते। किसी काम में उसका मन नहीं लगता। अनमना-सा किले में घूमता रहता। अभी तक कुतुब शाह ने अपने दिल का राज़ किसी पर जाहिर नहीं किया था, यहां तक कि अपने जिगरी दोस्त जफर से भी यह राज छुपाए रखा, लेकिन प्यार तो प्यार है, वह कैसे छुपा रह सकता है। जफर को यह देखकर अजूबा लगा कि उसका दोस्त कुतुब शाह अब नृत्य-गीत की महफिलों में शिरकत नहीं करता और कहने के बावजूद उसमें कोई रुचि नहीं लेता। उसे लगा कि महल के गवैयों और नर्तकियों से शायद शहज़ादे का मन ऊब गया है। एक दिन उसने कुली कुतुब शाह को बताया कि मूसी नदी के उस पार संगीत की एक बेमिसाल फनकार रहती है। अगर शहज़ादे की इजाज़त हो, तो चलकर उसकी गायिकी का मज़ा लिया जाए। तय हुआ कि दूसरे दिन चला जाए। दोनों ने मूसी नदी पार की और जफर शहज़ादे को लेकर एक मंदिर की तरफ बढ़ चला। मंदिर में संगीत जारी था। कुतुब शाह के कानों में जब गाने की आवाज़ पड़ी, तो उसे लगा, जैसे युगों-युगों से वह यही स्वर खोज रहा था। उसकी बेचैनी और बढ़ गई। अब उसके लिए मंदिर से बाहर रहना पलभर भी गवारा नहीं था। जफर उसके हाल-ए-दिल का अंदाज़ा लगा ही रहा था कि शहज़ादा मंदिर की सीढ़ियां चढ़ने लगा। जब दोनों मंदिर के प्रांगण में दाखिल हुए, तो देखा कि एक युवती सिर नीचे किए गा रही है। शहज़ादे ने जफर से पूछा कि यह कौन है। जब तक जफर शहज़ादे को जवाब देता, तब तक उस युवती ने

अपना सिर उठाया। उसे देखते ही शहज़ादे के दिल की धड़कन बढ़ गई, वह सुधबुध खोकर उसे अपलक निहारने लगा। युवती भी उसे देखे जा रही थी। संगीत खत्म होने के बाद वह युवती मंदिर से बाहर निकली और अपने घर की ओर कदम बढ़ा दिये। कुतुब शाह भी किसी अनजानी डोर से बंधा उसकी तरफ खिंचा चलने लगा। थोड़ी दूर चलने के बाद उस युवती ने जब पीछे मुड़कर देखा, तो शहज़ादे को भी अपने साथ आते देखा। वह रुक गई। जब शहज़ादा उसके निकट पहुंचा, तो युवती ने उसे प्रसाद दिया और होंठों पर स्मित हास्य लिये जाने के लिए मुड़ी। शहज़ादा तो उसकी खूबसूरती में इस तरह खोया था कि उसके मुंह से बोल ही नहीं फूट पा रहे थे। किसी तरह उसने अपनी जुबान खोली और युवती से पूछा, 'तुम्हारा नाम क्या है?' युवती ने बताया कि उसका नाम भागमती है। लेकिन उसे यह कहां पता था कि वह सचमुच भाग्यवान भी है। उसका भाग्य तो अब उदय होने वाला था। कुतुब शाह ने कहा कि वह उससे मिलना चाहता है। युवती का जवाब था कि इसके लिए उसे उसके गांव चिचलाम आना होगा।

इसके बाद कुली कुतुब शाह और भागमती मिलने लगे। शहज़ादा रोज़ रात को मूसी नदी पार कर उससे मिलने जाता और सुबह अपने महल में वापस लौट आता। धीरे-धीरे यह बात लोगों पर जाहिर होने लगी और आखिरकार बादशाह इब्राहिम के कानों तक पहुंच गई। उसे अपने बेटे की नादान मुहब्बत पर अफसोस हुआ और उसने शहज़ादे के वहां जाने पर रोक लगा दी। लेकिन प्यार कहां कोई बंधन मानता है, बादशाह के हुक्म की अनदेखी कर वह तब भी भागमती से मिलने पहुंच जाता। एक बार ऐसा हुआ कि कई दिनों तक वह भागमती से मिलने नहीं जा पाया, क्योंकि बादशाह ने उसके कहीं आने-जाने पर ज़बर्दस्त पहरेदारी बिठा रखी थी। एक दिन गजब का तूफान आया और फिर टूटकर पानी बरसा। चारों तरफ केवल पानी ही पानी। मूसी नदी ने तो जैसे प्रलय का रूप धारण कर लिया, लेकिन प्रेमी हृदय कुतुब शाह के लिए यह प्रलय नहीं, बल्कि एक अवसर था-अपनी प्रिया से मिलने का। इससे भी ज़्यादा वह भागमती की सुरक्षा को लेकर चिंतित था। वह रात के अंधेरे में चुपके से अपना घोड़ा लेकर मूसी नदी की ओर बढ़ चला। जब वह नदी के किनारे पहुंचा और घोड़े को नदी में उतारने की कोशिश की, तो घोड़ा अड़ गया। मूसी नदी के उफान को देखकर घोड़ा भी सहम गया, लेकिन शहज़ादे के दिल में प्रिया मिलन की ऐसी लगन लगी थी कि वह किसी भी तरह घोड़े को नदी में उतारने के लिए जह्दोजहद करने लगा।

आखिरकार घोड़ा उसके प्यार के आगे हार गया और नदी में उतर गया। नदी पार करते समय कई बार तो ऐसा लगा कि न तो शहज़ादे की जान बचेगी और ना ही घोड़े की, लेकिन अंततः प्यार की जीत हुई और दोनों सकुशल पार उतर गए। यह किसी चमत्कार से कम नहीं था। कुली कुतुब शाह ने देखा कि उसकी भागमती प्रलयकारी बाढ़ से बेखबर वहीं बैठी हुई है, जहां बैठकर वह रोज़ शहज़ादे के आने का इंतज़ार करती थी। उसे इस बात की कोई परवाह नहीं थी कि उसकी जान खतरे में है। कुली कुतुब शाह ने जब भागमती को नदी किनारे बैठे देखा, तो वह दौड़कर उसके पास पहुंचा और उसे अपनी बलिष्ठ भुजाओं में बांध लिया। भागमती भी किसी लता की तरह उसके सीने से लिपट गयी। प्रेयसी के साथ रात बिताकर जब सुबह में वह अपने महल में लौटा, तो वहां हंगामा मचा हुआ था। शहज़ादे को महल से गायब देखकर महल में कोहराम मचा हुआ था। जब बादशाह इब्राहिम शाह को शहज़ादे के बचकानी दुस्साहस का पता चला, तो उसे बड़ा नागवार गुज़रा, लेकिन जल्दी ही वह समझ गया कि शहज़ादा प्यार में पागल है और पागल को अपने मन की करने से भला आज तक कौन रोक पाया है। अब बादशाह के अंदर का बाप जाग चुका था। उसने अपने बेटे की खुशी के लिए ऐसा काम किया, जिसे करने में आज के पिता भी उज़्र करें। उसने मूसी नदी पर पुल बनवा दिया, ताकि शहज़ादे को अपनी दिलरुबा से मिलने में कोई परेशानी न हो और वह सुरक्षित भी रहे। अब शहज़ादा आसानी से अपनी माशूका से मिल सकता था।

इस बीच 1580 में बादशाह इब्राहिम शाह जन्तनशीं हो गए और कुली कुतुब शाह गोलकुंडा की गद्दी पर आसीन हुआ। चूंकि बादशाह इब्राहिम शाह ने अपने वज़ीर से करार कर रखा था कि उनके बेटे की शादी उसकी बेटी से ही होगी, इसलिए न चाहते हुए भी कुली कुतुब शाह को वज़ीर की बेटी से निकाह करना पड़ा। इतना ही नहीं, बादशाह बनने के बाद कुतुब शाह राजकाज में ऐसा उलझा कि दो महीने तक वह भागमती से मिलने भी नहीं जा सका। उधर भागमती को जब पता चला कि उसके दिलदार ने शादी कर ली है, तो वह परेशान हो गयी। बहरहाल, उसे विश्वास था कि उसका प्यार उससे मिलने ज़रूर आएगा, लेकिन जब दो महीने गुज़र गए, तो भागमती को लगने लगा कि उसका प्यार सुल्तान बनकर खो गया। पर क्या सचमुच। कतई नहीं, क्योंकि एक दिन अचानक कुतुब शाह भागमती से मिलने उसके गांव चिचलाम पहुंच गया। भागमती ने उससे

पूछा कि अब मेरे पास क्या करने आए हो। शहज़ादे का जवाब था कि वह अपनी ज़िंदगी को अपने पास ले जाने के लिए आया है। भागमती ने कहा कि तुम्हें तो तुम्हारी ज़िंदगी मिल चुकी है और किसी को दो ज़िंदगियां नहीं मिलतीं। बादशाह ने फरमाया कि वह मेरी ज़िंदगी नहीं, मेरी मज़बूरी है और मज़बूरी को मज़बूरी में ही गले लगाया जाता है। उसने यह भी कहा कि अगर भागमती मेरे भाग्य में नहीं है, तो फिर मेरा जीना ही किस काम का। भागमती आखिरकार कुली कुतुब शाह के प्यार के आगे हार गई और उसने उसे माफ कर दिया। कुतुब शाह ने भागमती से कहा कि वह उसे अपने साथ ले जाने के लिए आया है। भागमती ने उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और सुल्तान के साथ गोलकुंडा रवाना हो गई। गोलकुंडा पहुंचने के बाद कुली कुतुब शाह ने खूब धूमधाम से शादी रचाई। कहते हैं कि कुतुबशाही वंश के इतिहास में इतनी धूमधाम से न तो पहले किसी की शादी हुई थी और न उसके बाद। भागमती को पाकर कुली कुतुब शाह फिर से गीत-नृत्य में रस लेने लगा। सबसे अच्छी बात यह हुई कि भागमती को पाकर उसके अंदर का कवि जाग उठा। अब वह अपनी महबूबा के लिए नित्य नई-नई कविताएं लिखता, जिसे भागमती खुद स्वरबद्ध करती और अपने प्रियतम को गा कर सुनाती।

समय बीतता जा रहा था। दोनों की खुशियां आसमान छू रही थीं। एक दिन सुल्तान अपने महल में बैठा अपनी बेगम को ऐसा नज़राना पेश करने की सोच रहा था, जो उसकी अजीम मुहब्बत के लायक हो। बस क्या था, उसने अपनी महबूबा के लिए एक नया शहर ही बसा दिया और उसका नाम रखा भाग्यनगर। इस नगर का शिलान्यास 1591 में रखा गया और प्रधानमंत्री मोमिन की देख-रेख में इसका निर्माण हुआ। भागमती अपने नए शहर में पालकी में बैठकर आई, जिसे आठ कहार ढो रहे थे। काफिले में 1000 घुड़सवार शामिल थे। जब भागमती महल के पास पहुंची, तो कुतुब शाह अपनी बेगम की आगवानी करने दौड़ते हुए आया। अपनी नई राजधानी में उसने अपनी बेगम को नया खिताब दिया हैदर महल। इसके बाद भाग्यनगर हैदराबाद के नाम से जाना जाने लगा। शादी के बारह साल बाद भागमती की कोख से एक बेटी का जन्म हुआ, जिसका नाम रखा गया हयात बख्शी। यही बेटी आगे चलकर कुतुबशाही वंश की छठवां सुल्तान बनी। लेकिन भागमती ज़्यादा दिनों तक ज़िंदा नहीं रही। लगभग 40 साल की अवस्था में वह परलोक सिंधार गई। इसके बाद इस कहानी पर इतिहास की ऐसी धूल पड़ी कि वह लोगों की नज़रों से ही ओझल हो गई।

## साझी विरासत

■ जां निसार अख्तर

...पिछले अंक से जारी

### हिन्दुस्तान की महानता

इतिहास गवाह है कि हिंदुस्तान ने सदियों दुनिया को ज्ञान का प्रकाश प्रदान किया है। यह धरती अगर एक तरफ दुनिया के कई बड़े धर्मों की जन्मभूमि है तो दूसरी तरफ कई विद्याओं और कलाओं का पहला पालना भी सिद्ध हुई है। एक तरफ इसने वेद, उपनिषद्, महाभारत, रामायण, गीता और धम्मपद जैसी पवित्र किताबें दुनिया को दीं तो दूसरी तरफ गणित, दशमलव प्रणाली, ज्योतिष विद्या, खगोल विद्या और आयुर्वेद में दूसरे देशों का मार्गदर्शन किया। आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त, और वराह मिहिर ने अगर ज्योतिष शास्त्र और गणित शास्त्रों को आगे किया तो वाग्भट्ट ने आयुर्वेद पर एक बड़ा ग्रंथ जमाने के सामने रखा। यही नहीं चित्रकारी, मूर्तिकला और वास्तुकला में अजन्ता, एलौरा, सांची और सारनाथ की बेमिसाल यादगारें कायम कीं। अपने मुल्क के महान कारनामों पर गर्व करना और अपनी धरती के कण-कण से मुहब्बत करना एक नफूसियाती बात है। इंसान जिस धरती पर रसता-बसता है, उसके आर्थिक और सांस्कृतिक रिश्तों की जड़ें उस धरती में बहुत गहरी होती हैं। और यही वह बंधन है जो देशभक्ति की भावना की बुनियाद है। आर्यों से लेकर मुसलमानों तक जितनी भी कौमें आईं और यहां रस-बस गईं उनके लिए हिंदुस्तान अपना वतन बन गया। यह भी सत्य है कि हिंदुस्तान में एक संयुक्त राष्ट्रीयता की बुनियाद शुरू ही से पड़ती रही है और हिंदुस्तान की सारी कौमें वक्त के साथ इस उद्देश्य की तरफ कदम बढ़ाती रही हैं। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि धर्म, नस्ल और इतिहास का सहयोग यद्यपि अहम है लेकिन संयुक्त राष्ट्रीयता के लिए अनिवार्य शर्त की हैसियत नहीं रखता। डॉक्टर आबिद हुसैन ने भी अपनी किताब 'कौमी तहज़ीब का मस्अला' में माना है कि केवल भौगोलिक एकत्व, आर्थिक एकत्व और आम सांस्कृतिक एकत्व ही को हम कौमी राष्ट्रीयता की अनिवार्य शर्तें करार दे सकते हैं। मिला-जुला इतिहास निश्चित ही एक बड़ी शक्ति है जो एक देश में बसने वालों को एक करने में मदद देती है। हिंदुस्तान की कौमें हजारों साल से एक-दूसरे के साथ ज़िंदगी गुज़ारती आई है। मुसलमान जो सबके बाद में यहां आकर बसे उन्हें भी साढ़े सात सौ साल से ज़्यादा हो गये हैं। अगर हम उस वक्त से मुसलमानों के आगमन का हिसाब करें जब उन्होंने सिंध में पहले-पहले अपने कदम जमाये तो बारह सौ साल से भी ज़्यादा का अरसा होता है। अठारहवीं सदी के मध्य से उन्नीसवीं सदी के मध्य तक के ज़माने में जो हिंदुस्तानियों की राजनीतिक और आर्थिक दासता का दौर था, हिंदुओं और मुसलमानों का इतिहास, जो दरअसल स्वतंत्रता-युद्ध का इतिहास है, एक रहा है। हिंदुओं और मुसलमानों के सांस्कृतिक मेलजोल की तरफ हम पहले ही इशारा कर चुके हैं। उर्दू भाषा जो इस साझे का ही फल थी, हिंदुओं और मुसलमानों की साझे की मीरास

है। मौलवी अब्दुल हक ने अपने अभिभाषणों में लिखा है कि 'उर्दू के बनाने-संवारने में अगर हिंदुओं की साझेदारी न होती तो यह अस्तित्व ही में न आ सकती थी।' अतएव उर्दू ने जहां इस धरती की एक-एक चीज़ को गले लगाया वहां इस देश की महानता के भी गीत गाए।

जो नज़में इस विषय पर चुनी गयी हैं उनमें पहली नज़म डॉक्टर इक़बाल की है जो अखंड हिंदुस्तान में पैदा हुए और अखंड हिंदुस्तान में ही स्वर्ग सिधार गये। इक़बाल की यह नज़म जंगे-आज़ादी के दौरान तराने का रूप धारण कर गयी थी और जब हिंदुस्तान आज़ाद हुआ तो आज़ादी की घोषणा के समारोह में टैगोर के 'जन गण मन' के साथ, जो आज हमारा राष्ट्रगीत है, इक़बाल का यह तराना भी गाया गया था। 'चकबस्त' की 'खाक़े-हिंद' में हिंदुस्तान की महानता का वर्णन है। एक ओर गौतम, सरमद, अकबर और राणा का ज़िक्र है तो दूसरी तरफ गंगा और कश्मीर की खूबसूरत घाटी का बयान है। दुर्गासहाय 'सुरूर' जहानाबादी के यहां देशभक्ति की आत्मा है। 'जोश' की नज़म व्यक्तिगत अनुभूति लिए हुए है, फिर भी करोड़ों दिलों की बात कहती है। 'फिराक़' ने अपनी रुबाइयों में हिंदुस्तान की जो सर्वव्यापी और महान तस्वीर दी है वह हमारे तारीखी, समाजी और इल्मी पहलुओं का ही ज़िक्र नहीं करती बल्कि हमारी नैतिक और आध्यात्मिक ऊंचाइयों को भी अपने में समोये हुए है। महाराजा बहादुर 'बर्क' हिंदुस्तान के नैयरे-इक़बाल के दुबारा चमकने का यकीन रखते हैं। इसी तरह 'सीमाब' की नज़म में अनेक ऐतिहासिक हवाले मिलते हैं और वह हिंदुस्तान की गुज़री हुई महानता को एक बार फिर आवाज़ देते नज़र आते हैं। 'जमील' मज़हरी, आनंद नारायण 'मुल्ला' और 'तैश' सिद्दीकी ने हिंदुस्तानी इतिहास और संस्कृति को सुंदर ढंग से पेश किया है। खासतौर पर 'मुल्ला' और 'तैश' की नज़मों का कैन्वस काफी विस्तृत है। 'सागर' निज़ामी का 'तराना-ए-वतन' एक गीत का तास्सुर लिए हुए है। 'अफसर' मेरठी, निहाल स्योहारवी और 'एजाज़' सिद्दीकी की कोशिशें भी निष्ठ से परिपूर्ण हैं। सरदार जाफरी की लंबी मस्नवी का एक टुकड़ा भी शामिल किया गया है जिसमें वह बरतानवी कब्ज़े से हिंदुस्तान के सौंदर्य के सारे खज़ाने हमेशा के लिए छीन लेना चाहते हैं। गोपाल मित्तल की संक्षिप्त नज़म में आज के हिंदुस्तान में विचार-स्वातंत्र्य और व्यवहार-स्वातन्त्र्य को सराहा गया है। 'नाजिश' की कृति बहुत सुंदर है। जां निसार अख्तर के बाद 'बादः-ए-वतन' में हिंदुस्तान के दृश्य, त्योहार, रीति-रिवाज़, ललित कलाओं आदि का प्रतिनिधित्व है। आखिर में सिकन्दर अली 'वज्द' की नज़रे वतन' है। यह नज़म उन भावनाओं का इज़हार है जो अपने देश को आज़ादी से गले मिलते देखकर शाइर के दिल में मौजें मार रही हैं।

सियाह दौरे-गुलामी ख़यालो-ख़्वाब हैं आज

बलन्द अज़मते-इन्सां का आफ़ताब हैं आज

ये रचनायें इस बात का खुला सुबूत हैं कि हिंदुस्तान की सदियों की महानता उर्दू शाइरों की कला और चिंतन का अंग बन गयी है।

## प्राकृतिक दृश्य

हिंदू शास्त्रों में पर्वत को शक्ति का प्रतीक समझा जाता है। सब पर्वतों में हिमालय का स्थान सबसे ऊंचा है। इसकी विभिन्न चोटियों को विभिन्न देवी-देवताओं का निवास-स्थान माना गया है। मसलन मेरु ब्रह्मा का निवास स्थान है, मंदराचल दुर्गा का निवास स्थान है, कैलाश शिवजी का निवास स्थान है। गंगा और पार्वती को हिमालय की बेटियां माना गया है। और एक किंवदन्ती के अनुसार हिमालय का नाम हेमावती से लिया गया है जो पार्वती के अनेक नामों में से एक है। हिमालय की पवित्रता का अंदाज़ा इससे भी किया जा सकता है कि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि साधना और आराधना के लिए हिमालय या उसकी तराई को अपना स्थान बनाते रहे हैं। इस धार्मिक श्रद्धा से अलग हिमालय की भौगोलिक स्थिति हमारे देश के लिए बड़ी अहम रही है। 'इकबाल' की नज़्म हिमालय की महानता का राग गाती है और बड़े रोबीले शब्दों में। 'मुनवर' लखनवी की नज़्म दरअसल कालिदास के 'कुमारसम्भव' का एक टुकड़ा है। कालिदास ने जिस हुस्न और खूबी के साथ हिमालय का चित्र खींचा है, इसमें शक नहीं कि 'मुनवर' ने उसे उर्दू शाइरी के कालिब में उसी खूबसूरती से ढाल दिया है। गंगा पर उर्दू में अनेक नज़्में हैं, उनमें से हमने सिर्फ पांच नज़्में दी हैं। गंगा हमारे देश की सबसे पवित्र नदी मानी जाती है। प्राचीन काल से लेकर आज तक इसको धार्मिक महत्व प्राप्त है। हिंदू शास्त्रों में यह नदी गंगा माई या गंगा माता कही जाती है और इसे देवी का स्थान दिया गया है। पुराणों के युग में कितनी ही कथायें गंगा के संबंध में अस्तित्व में आईं जिनमें गंगा को ब्रह्मा, विष्णु और शिव से एक-न-एक रूप में संबंधित बताया गया है। एक कथा यह भी है कि राजा सगर के बेटे जब एक ऋषि के शाप से भस्म हो गये तो भगीरथ ने उनकी आत्मा की शांति के लिए यही उपाय सोचा कि गंगा स्वर्ग से धरती पर उतरे और उसके पवित्र जल से उनकी मुक्ति हो। भगीरथ ने अपनी तपस्या से गंगा को राज़ी कर लिया लेकिन डर यह पैदा हुआ कि गंगा धरती पर सीधी गिरी तो धरती धंस न जाए। उस समय शिवजी ने यह बात मान ली कि गंगा उनकी जटाओं पर गिरे और वहां से धरती पर बहे। भगीरथ की तपस्या ही से मानो गंगा धरती पर उतरी इसलिए गंगा को भागीरथी भी कहकर पुकारा जाता है। इस धार्मिक विशेषता के अलावा गंगा का ऐतिहासिक महत्व भी बहुत बड़ा है। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपने वसीयतनामे में गंगा के बारे में महत्वपूर्ण बातें कही हैं। वैसे भी गंगा हिंदुस्तान जैसे कृषि-प्रधान देश में अहम है जो हमारे देश की लाखों मील धरती को सींचती और तृप्त करती है। गंगा पर जो नज़्में दी गयी हैं वे उसके विभिन्न पहलुओं का चित्रण करती हैं। विशेषतः 'नज़्म' बनारसी की नज़्म 'गंगा के तीन रूप' और 'राही' मासूम रज़ा की नज़्म का आखिरी टुकड़ा बहुत खूबसूरत है। 'सागर' निज़ामी की नज़्म यमुना पर है। यमुना भी हमारे देश की महत्वपूर्ण नदी है। पौराणिक दृष्टि से जमुना या यमुना सूर्य देवता की पुत्री मानी गयी हैं। भाईदूज के मौके पर यमुना के किनारे मेला लगता है जहां बहनें स्नान करके अपने भाइयों के लिए शुभकामनाएं करती हैं। यमुना की महानता और विशेषता में बड़ा हाथ कृष्ण और राधा की कथा का है। यमुना जिसके किनारे कृष्ण के पवित्र प्रेम के आज भी राग गाए जाते हैं और जहां सदियों के बाद एक और मुहब्बत की यादगार 'ताजमहल' के रूप में उभरी, उर्दू साहित्य में हमेशा के लिए प्रवाहित हो चुकी है। एक नज़्म संगम या त्रिवेणी पर है। यह हामिदुल्लाह 'अफसर' मेरठी की है।

इलाहाबाद या प्रयाग में जहां गंगा-यमुना और सरस्वती का मिलाप होता है, उसी को संगम के नाम से याद करते हैं। सरस्वती नदी का उल्लेख हमें ऋग्वेद में मिलता है। उसके ठंडे, निर्मल जल की मां के दूध से तुलना की गयी है। कहा जाता है कि सरस्वती गंगा-यमुना की सतह के नीचे शांति और सुकून से बहती रहती है। संगम हिंदुओं का पवित्र स्थान है। एक पौराणिक कथा के अनुसार अमृत घट की बूंदें तीन-चार स्थानों पर टपक पड़ी थीं। उनमें प्रयाग, हरिद्वार, काशी आदि सम्मिलित हैं। कुंभ का मेला यहीं लगता है। एक नज़्म रावी पर है। 'इकबाल' ने इस नदी को जीवन के दार्शनिक दृष्टिकोण से देखा है। आखिर में जगन्नाथ 'आज़ाद' की संक्षिप्त नज़्म 'चिनाब' है, जिससे हिंदुस्तान की कई रूमानी कहानियां संबद्ध हैं।

इस अध्याय के दूसरे भाग में दृश्यों पर चन्द मोहक नज़्में हैं। उर्दू में दरअसल फ़ितरत-निगारी की शुरुआत 1857 के बाद हुई। इस शे'री आंदोलन के बारे में अगर निश्चयात्मकता से काम लिया जाए तो हम 1857 का साल निश्चित कर सकते हैं। इस साल मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद' ने आधुनिक उर्दू शाइरी का नज़रिया पेश किया और मुहम्मद इस्माईल मेरठी ने अंग्रेजी नज़्मों के अनुवाद किये। 1874 में यह आंदोलन लोकप्रिय हुआ और 'आज़ाद' के कंधे से कंधा मिलाकर 'हाली' भी इस मैदान में उतर आए। हिंदुस्तान के प्राकृतिक दृश्य, यहां के सुब्हो-शाम और यहां के मौसमों पर नज़्में लिखी जाने लगीं। यद्यपि इससे पहले मस्नवियों और मर्सियों के क़सीदों में भी ये तत्व मिलते हैं जिनकी तरफ हम इशारा कर चुके हैं। प्राचीन शाइरी में केवल 'नज़्म' अकबराबादी एक ऐसा शाइर है जिसने ऐसे विषयों पर अलग-अलग नज़्म कही हैं। फ़ितरतनिगारी हमें 'इकबाल' और 'चकबस्त' के यहां भी मिलती हैं। 'जोश' मलीहाबादी ने इस प्रकार की बहुत सुंदर और दिलकश नज़्में कही हैं। उन्हीं के प्रभाव से यह प्रवृत्ति आगे की नस्ल तक पहुंची। 'सागर' निज़ामी, अहसाल 'दानिश', 'अख्तर' शीरानी, 'नदीम' कास्मी, विशेषकर रूमानी शाइरों ने इसे अपनाया। प्रगतिशील आंदोलन के शाइरों के कलाम में इस प्रकार की नज़्में हैं लेकिन बहुत कम। इस हिस्से में जो नज़्में दी गयी हैं, उनमें दो टुकड़े तो मीर हसन की मस्नवी 'सहरुलबयान' से लिये गये हैं। तीन नज़्में जोश की हैं और निस्सन्देह लाजवाब हैं। ज़िंदा दृश्यों में इंसानी जज़्बात पर दृश्यों की जादूगरी को बड़े खूबसूरत अंदाज़ में पेश किया है। 'फ़ाख़्ता' की आवाज़, उर्दू की हसीनतरीन नज़्मों में गिने जाने के लायक है। अब्बास बेग 'महशर' की 'राजहंस', 'अख्तर' शीरानी की 'चरवाहे की बंसी', जां निसार 'अख्तर' की 'एक वादी से गुज़रते हुए', 'फ़ैयाज़' ग्वालियरी की 'धान के खेत' और 'शिहाब जाफ़री' की नज़्म 'जज़ीरों का ख़ाब' इस प्रकार की शाइरी का खूबसूरत सरमाया हैं।

इन नज़्मों में हिंदुस्तान के प्राकृतिक दृश्यों की असली रूह है।

### हमारे सुब्हो-शाम

यह वास्तविकता है कि अगर हम ऐसे शाइरों की फ़ेहरिस्त तैयार करें जिनके कलाम में हमारे सुब्हो-शाम का हुस्न और जमाल रचा है तो तादाद सैंकड़ों से कम न होगी। जो नाम सहसा हमारे ज़िहन में उभरते हैं वे 'आज़ाद' और 'हाली' के अलावा इस्माईल मेरठी, 'चकबस्त', 'सुरूर', बेनज़ीर शाह, 'नादिर' काकोरवी, अब्दुल हलीम 'शरर', 'नज़्म' तबातबाई, 'शौक' किदवाई, 'औज' गयावी, सैयद मुहम्मद हादी, 'जलाल' मुरादाबादी, कुन्दनलाल 'शरर' वगैरा हैं। 'इकबाल' और 'जोश' के बाद भी मंज़रनिगारी



की प्रवृत्ति उर्दू शाइरी में रही, जैसा कि हम ऊपर दिखा आए हैं। इस भाग में जो पहली नज़्म 'तूलू-ए-आफ़ताब' शामिल है वह ग़ालिब के क़सीदे से ली गयी है। मर्सियों में से हमने मिर्ज़ा अनीस के यहां से 'नूर ज़हूर का वक़्त' और 'नफ़ीस' के यहां से 'सुह्र का समा' लिया है। 'जल्वा-ए-सुह्र' के शीर्षक से ब्रजनारायण 'चकबस्त' की नज़्म है जो मिर्ज़ा अनीस ही के रंग में है। एक छोटी मगर खूबसूरत नज़्म 'सुह्र की बहार' 'उफ़ुक़' लखनवी की है। 'नुमूदे सुह्र' 'बेनज़ीर' शाह पर मीर हसन का असर साफ़ दिखायी देता है। उनके यहां अवलोकन की बड़ी शक्ति है। इक़बाल की नज़्म 'आफ़ताब' दरअसल गायत्री से अनूदित है। एक मौलिक नज़्म 'नुमूदे-सुह्र' भी शामिल है। इक़बाल अपने आलाप से हर दृश्य को वैभवशाली बना देते हैं। सुह्र पर एक नज़्म 'जोश' की है। उसमें 'जोश' अपनी शाइराना लताफ़तों और जादूगराना उपमाओं के साथ जल्वागर हैं। दोपहर पर 'अख़्तर' अंसारी की एक छोटी-सी नज़्म है। आखिरी शेर में वास्तव में दोपहर सनसाती हुई अनुभव होती है। शाम पर इक़बाल, 'जोश', 'मख़दूम' और 'निदा' फ़ाज़ली की नज़्में हैं। 'जोश' की नज़्म उनकी मशहूर नज़्म 'किसान' का प्रारंभिक भाग है इक़बाल की 'बज़्मे-अन्जुम' मंज़रनिगारी की हद से गुज़रकर जीवन-दर्शन तक पहुंचती है और उनकी आवाज़ अलग से सुनाई देने लगती है। रात के विषय पर पहली नज़्म मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद' की है। दूसरी मुहम्मद इस्माईल मेरठी की। इस्माईल की शफ़क़ पर भी एक खूबसूरत नज़्म कहीं है लेकिन लंबी होने के कारण उसे शामिल नहीं किया गया। 'बेनज़ीर' शाह की 'चांदनी रात' उनके विशेष रंग की द्योतक है। एक ग़ज़लनुमा नज़्म 'औज़' गयावी की है और आखिर में 'शाज़' तमकनत की 'आखिरे-शब' है जिसमें खूबसूरत शब्दों और खूबसूरत बन्दिशों की बहुतायत के बावजूद एक जज़्बाती कैफ़ियत रची हुई है।

### हमारे मौसम

उर्दू ज़बान जहां अपने विकास की विभिन्न मंज़िलों में स्थानीय भाषाओं से असर कुबल करती रही वहीं स्थानीय साहित्यिक परंपरा और काव्य-रूपों को भी अपनाया। बारहमासा की परंपरा के बारे में डॉ. मसूद हुसैन खां का खयाल है कि 'इसका विकास संस्कृत और अपभ्रंश के प्रबंधकाव्य के ऋतु वर्णन से हुआ है।' कालिदास की 'ऋतुसंहार' इसका श्रेष्ठ नमूना है और इस अध्याय का आरंभ हमने उसी के अनुवाद से किया है जो सरदार जाफ़री का किया हुआ है। यही ऋतुओं का ज़िक्र अपने मासिक विवरण में जाकर बारहमासा बन गया। इसके प्रभाव से दूसरी स्थानीय भाषाओं में मौसमों का हाल बयान होने लगा। हिंदी साहित्य में वीरगाथा काल के अधिकांश 'रासो' में ऋतु वर्णन का विधान मिलता है। उर्दू ने भी इस परंपरा का लाभ उठाया। अतएव उर्दू में बारहमासे का पहला नमूना मुहम्मद अफ़ज़ल 'अफ़ज़ल' (मृत्यु 1625 ई.) का लिखा हुआ मिलता है जो 'विकट कहानी' के नाम से मशहूर है। इसकी भाषा बताती है कि इसके लिखने वाले का संबंध खड़ी बोली या उससे लगे हुए क्षेत्र से है। 'अफ़ज़ल' के बाद आयतुल्ला 'जौहरी', काज़िम अली 'जवां', अब्दुल्ला अंसारी और न जाने कितने शाइरों ने बारहमासे लिखे। इन बारहमासों का यह महत्व कम नहीं कि यह मिली-जुली सभ्यता, भाषा और साहित्य का मार्ग निश्चित करने की ओर एक खुशगवार पहल का पता देते हैं। हमने इस अध्याय में 'अफ़ज़ल' के बारहमासे के दो टुकड़े 'सावन और भादों' लिये हैं। हिंदी शाइरी की परंपरा के अनुसार औरत आशिक़ की हैसियत रखती है। वही

हैसियत उर्दू के बारहमासों में उसको दी गयी है।

बरसात हिंदुस्तान का सबसे खूबसूरत मौसम माना जाता है जहांगीर ने अपनी 'तुजुक' में लिखा है कि बरसात ही हिंदुस्तान का वसंत है। दक्षिण में इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय ने अपनी किताब 'नौरस' के एक गीत में कहा है कि 'हिंदुस्तान की आदर्श औरत बरसात के समान है क्योंकि उसके दांत दुनिया को रौशन करने वाली बिजली हैं। रंग-बिरंगे वस्त्र बादल मालूम होते हैं और पसीना घनघोर घटा है जो बरस रही है। शरीर के बाल पौधे हैं और जवानी फल की तरह है।' वह बरसात के आगमन पर जश्न मनाता था। यही हाल सुल्तान कुली कुतुबशाह का था। इस मौसम पर उसकी कोई पन्द्रह नज़्में हैं। इसके अलावा 'वजही' के ज़माने से अदबी मस्नवियों का जो सिलसिला शुरू हुआ उनमें 'मुक़ीमी' की 'चंद्रबदन महियार', जुनेदी की 'माह पैकर', 'सिराज' की 'बोस्ताने-खुवाल', नुसरती की 'फूलवन' और सैकड़ों मस्नवियों में दृश्यों और मौसम पर अशआर मिलते हैं, लेकिन भाषा की कठिनाई के कारण उनके हिस्से नहीं लिये गये। उत्तर भारत की मस्नवियों से हमने एक-दो टुकड़े लिये हैं। मीर तक़ी 'मीर' ने लगभग बत्तीस मस्नवियां लिखी हैं जिनमें चार मस्नवियां बरसात के बारे में हैं। इनमें से हमने उद्धरण लिये हैं। प्राचीन काल में 'नज़ीर' अकबराबादी का वह एकमात्र व्यक्तित्व है जिसने हिंदुस्तानी मौसमों, त्योहारों बल्कि हिंदुस्तान के हर हुस्न को अपनी शाइरी का विषय बनाया। डॉक्टर 'सलाम' सन्देलवी ने ठीक ही कहा है कि 'अमीर खुसरो के बाद अगर किसी शाइर के कलाम में हिंदुस्तान का गहरा और हसीन अक्स मिलता है तो 'नज़ीर' अकबराबादी की नज़्मों में है।' एक उद्धरण हमने हाली की 'बरखा रुत' से लिया है। 'हाली' की इस नज़्म में सिर्फ़ बरसात की मंज़रकशी ही नहीं बल्कि इंसानों की भावनात्मक प्रतिक्रिया को भी प्रकट किया गया है। इसके अलावा 'सुरूर' जहानाबादी की 'फ़ज़ा-ए-बर्शागल', 'बेनज़ीर' शाह की 'आमदे-अब्र', 'उफ़ुक़' लखनवी की 'बरसात की बहार' और 'हसरत' मोहानी की 'बरसात' शामिल की है। 'जोश' की नज़्म 'बरसात की पहली घटा' सुंदर है। 'जोश' को सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बातों के चित्रण में जो कुशलता प्राप्त है उसकी मिसाल 'नज़ीर' अकबराबादी के बाद कहीं और नहीं मिलती। एक छोटी-सी नज़्म 'अख़्तर' शीरानी की है। 'शम्स' अज़ीमाबादी की नज़्म 'बरसात' उनकी मस्नवी 'जल्वा-ए-सदरंग' से ली गयी है जो दरअसल बारहमासे की नवीनता का हुक्म रखती है। इसकी पृष्ठभूमि गया, पटना और आरा के शहरों, विशेषकर उनके आसपास की देहाती ज़िंदगी से गहरा संबंध रखती है। अतएव भाषा पर भी स्थानीय बोलचाल का ख़ासा असर है फिर भी बारहमासे को ज़िंदा करने की यह कोशिश श्रेष्ठ कही जा सकती है। आखिर में अख़्तर शीरानी की एक और नज़्म 'ओ देस से आने वाले बता' के कुछ बंद दिये हैं। इसकी पृष्ठभूमि भी बरसात का मौसम और देहाती ज़िंदगी का नक्शा है और उर्दू की मशहूर नज़्मों में इसका शुमार होता है।

जाड़े पर जो नज़्में हैं उनमें 'सौदा' की एक मस्नवी 'बर्दिया' का एक टुकड़ा है। इसमें कल्पना के रंग की मिलावट है, अलबत्ता 'नज़ीर' अकबराबादी की नज़्म दिलचस्प और हल्का-सा व्यंग्य का अंदाज़ रखती है। एक टुकड़ा 'आज़ाद' की नज़्म 'ज़मिस्ता' से लिया गया है। 'बेनज़ीर' शाह की 'फ़स्ते-सरमा' उनकी विशेष शैली में है। 'जोश' की नज़्म 'जाड़ा और अंगीठी' बहुत सुंदर है और जाड़े की पृष्ठभूमि में हिंदुस्तान की जागीरदाना सभ्यता के एक खास पहलू की बड़ी दिलकश नुमाइन्दगी करती

है। 'शम्स' अजीमाबादी की मस्नवी से जाड़े पर भी एक उद्धरण लिया गया है और कोई शक नहीं कि बहुत सुंदर है।

गर्मी पर जो शेर 'अनीस' के एक मर्सिये से लिये गये हैं या 'हाली' की गर्मी का मौसम और इस्माई की गर्मी से संबंधित नज़्म, सबमें ग्रीष्म ऋतु की प्रचंडता का जोरदार बयान है अलबत्ता 'जोश' की नज़्म 'गर्मी और देहाती बाज़ार' उनकी प्रेक्षण-क्षमता का एक और सुंदर उदाहरण है। 'शम्स' की नज़्म भी बैसाख और जेठ की मौसमी हालत को सविस्तार पेश करती है और लगता है उनमें मौसमों पर लिखने का खास सलीका है। इसके बाद हमने बहार के मौसम पर गिनती की चंद नज़्में दी हैं जिनमें एक 'सौदा' के कसीदे के प्रारंभिक भाग के कुछ शेर हैं। ये शेर वसंत ऋतु को हमारी आंखों के सामने तो नहीं लाते, सिर्फ उनकी शैली की नुमाइंदगी करते हैं। 'गालिब' का कृतआ 'आमदे-बहार', 'अकबर' इलाहाबादी की नज़्मनुमा गज़ल 'बहार आई', 'बेनज़ीर शाह की 'बहार', अहमद अली 'शौक' किदवाई की 'आमे-बहार' इस मौसम पर चन्द चुनी हुई नज़्में हैं जो विभिन्न युगों की शाइरी में बहार का समां दिखाती हैं। इस अध्याय के अंत में 'जोश' और 'शम्स' की दो खूबसूरत नज़्में और जोड़ दी गयी हैं जो हर तरह प्रशंसा के योग्य हैं।

### हमारे त्योहार

त्योहारों की बुनियाद आमतौर पर मज़हब पर होती है। लेकिन चूंकि भारत एक कृषि-प्रधान देश है इसलिए इसके त्योहार अगर एक ओर मज़हब से ताल्लुक रखते हैं तो दूसरी तरफ फ़सल की तैयारी और पैदावार के संचय से। हिंदुस्तानी त्योहार अधिकांश इसी प्रकार के हैं। कुछ त्योहार ऐसे अवश्य हैं जिनका कृषि से कोई संबंध नहीं। मसलन रामलीला या दुर्गा पूजा। इनके अलावा बहुत-से वे त्योहार जो जैन मत, बौद्ध मत, ईसाइयत और इस्लाम वगैरा से ताल्लुक रखते हैं, विशुद्ध धार्मिक बुनियादों पर मनाये जाते हैं। हम मौसमों के बारे में नज़्में दे चुके हैं। त्योहारों पर भी उर्दू में बहुत-सी नज़्में मिलती हैं। यह बात कम महत्वपूर्ण नहीं कि जहां मुसलमान शाइरों ने हिंदुओं के त्योहार होली, दिवाली, वसंत वगैरा पर नज़्में लिखीं वहां हिंदू और सिख शाइरों ने इस्लामी त्योहारों पर नज़्में लिखीं। यह दरअसल उसी मिली-जुली सभ्यता का चमत्कार था जो हिंदू, मुसलमान, सिख को प्यारी रही है। शाइर वह चाहे किसी ज़बान का हो यों भी धार्मिक कट्टरपन का शिकार नहीं होता। उसके लिए इन्सानियत सबसे महत्वपूर्ण है। फिर उर्दू ज़बान जो इसी धरती की पैदावार है, उसके शाइर यहां के सभी त्योहारों को अपना त्योहार कैसे नहीं समझते! होली जिसे रंगों का त्योहार कहना चाहिए, पूरे भारत में बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। यह धूमधाम आज से नहीं, सदियों से चली आ रही है। दक्षिण के सुल्तानों के दौर में और उत्तर भारत में मुसलमानों के शासनकाल में हिंदू और मुसलमान मिलकर इस त्योहार को मनाते थे। सुल्तान कुली कुतुबशाह हर त्योहार को, चाहे ईद हो या वसंत, एक जश्न का रूप दे दिया करता था। दरअसल कुली कुतुबशाह हिंदुस्तानियत का पुजारी था। वसंत का त्योहार दक्षिण में ही नहीं उत्तर भारत में भी बड़ी आनबान से मनाया जाता था। वसंत का आरंभ इसी मौसमी त्योहार से होता है। जब रबी की फ़सल तैयार होने लगती है, एक ओर सरसों फूलती है तो दूसरी ओर आम के बौर महक उठते हैं। इस त्योहार को मुग़लों के युग में मुसलमान भी मनाते थे। शाही किले में उस दिन वसंती वस्त्र धारण किये जाते थे। आज तक वसंत पंचमी के दिन अगर एक तरफ़ कालकाजी के मंदिर पर मेला लगता है तो दूसरी

ओर मुसलमान सूफ़ी सरसों के फूल हाथ में लिए हुए उस स्थान पर जाते हैं जहां पहले-पहल वसंत पंचमी के अवसर पर खुसरो ने हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया की सेवा में सरसों के फूल पेश किये थे। कुली कुतुबशाह के दीवान में इस त्योहार पर नौ नज़्में मिलती हैं तो इस त्योहार से संबंधित गीत खुद शाहआलम ने भी कहे हैं। वसंत और दीवाली पर भी उसके शेर मिलते हैं। दीवाली का त्योहार भी जो सर्दी की शुरुआत का ऐलान है जिसे हिंदू धर्मग्रंथों के अनुसार रामचंद्रजी के चौदह वर्ष वनवास काटकर अयोध्या वापस आने का जश्न माना जाता है, उर्दू शाइरी का प्रिय विषय रहा है। इस त्योहार के अलावा दक्षिण और उत्तर भारत में शबेबरात और ईद भी प्रमुख ढंग से मनायी जाती रही है। फ़िरोज़शाह तुग़लक (1351 ई.) के ज़माने ही से शबेबरात के त्योहार में आतिशबाज़ी का रिवाज़ हो गया था और गाने-बजाने का भी। ज़ाहिर है जनसाधारण में यह रिवाज़ लोकप्रिय होता चला गया और आज भी शबेबरात के मौके पर आतिशबाज़ी का प्रदर्शन होता है।

हमने इस अध्याय में हर त्योहार पर कुछ नज़्में दी हैं। होली पर पहली नज़्म 'फ़ाइज़' देहलवी की है जो उत्तर भारत का पहला साहिबे-दीवान शाइर था। 'मीर' की 'मस्नवी दरबयाने-होली' से और 'हातिम' की मस्नवी 'बज़्मे-इशरत' से होली पर कुछ शेर लिये गये हैं। दो नज़्में 'नज़ीर' अकबराबादी की हैं जिनका वातावरण होली की रंगारंग कैफ़ियतों को हमारी आंखों के सामने ला देता है। सआदतयार खां 'रंगीन' की होली पर एक नज़्म है। बाकी नज़्में इस युग के शाइरों की कही हुई हैं, जिनमें एक 'सीमाब' अकबराबादी की है और दूसरी मुंशी द्वारकाप्रसाद 'उफ़ुक' की। वसंत पर 'नज़ीर', 'इंशा', 'अमानत' और 'बेनज़ीर' शाह की नज़्में हैं। 'बसंत बहार' शीर्षक से जो नज़्म 'मुनव्वर' लखनवी की है वह दरअसल जयदेव के 'गीतगोविन्द' के एक टुकड़े का अनुवाद है और इसमें कोई शक नहीं कि बहुत सुंदर अनुवाद है। तीन नज़्में वसंत पर और हैं जो 'नज़ीर' अकबराबादी की राखी पर भी है। दीवाली पर हमने पांच नज़्में चुनी हैं जिनमें आले अहमद 'सुरू', हुर्मतुल इकराम, 'शमीम' करहानी और 'मख़मूर' सईदी की नज़्में बहुत सुंदर हैं। 'ईदे-मीलादुन्नबी' पर 'हफ़ीज़' जालन्धरी की लंबी नज़्म 'विलादते-रसूले-मक़बूल' से लंबा उद्धरण दिया है। शबेबरात और ईद पर भी फिर 'नज़ीर' अकबराबादी ही की नज़्में हैं। 'बेनज़ीर' शाह की 'ईद की धूम' और 'अख़्तर' शीरानी की नज़्म 'ईद का चांद देखकर' भी इस अध्याय में सम्मिलित हैं। इनके अलावा हमने जैनी त्योहार-'छमावनी' पर भी एक नज़्म दी है जो 'नज़ीर' बनारसी की कही हुई है। यह त्योहार धार्मिक से अधिक सामाजिक हैसियत रखता है। जैन संप्रदाय के लोग साल में एक दिन एकत्रित होकर एक-दूसरे से साल-भर की बातों के लिए माफ़ी मांगते हैं और गले मिलते हैं। इसीलिए इसका नाम क्षमावनी (क्षमावाणी) रखा गया है। एक नज़्म आख़िर में 'फूलवालों की सैर' है जो गोपीनाथ 'अम्न' लखनवी की लेखनी की आभारी है। यह मेला हिंदू-मुस्लिम एकता का श्रेष्ठ द्योतक रहा है। बहादुरशाह 'ज़फ़र' के ज़माने में इसकी बड़ी धूम थी और आज उस शानो-शौकत से तो नहीं लेकिन मनाया ज़रूर जाता है। उर्दू शायरी में हिंदुस्तान के मेलों, प्रदर्शनियों, तैराकी की प्रतिस्पर्धाओं आदि पर न जाने कितनी नज़्में हैं जो इस संकलन में शामिल नहीं की गयी हैं। बहरहाल इन त्योहारों पर उर्दू शाइरों की रचनाओं से प्रतीत होता है कि हिंदुस्तानी समाज के परस्पर मेलजोल और मिली-जुली सभ्यता का प्रतिनिधित्व उर्दू शाइरी सदियों से करती आई है।

..क्रमशः जारी  
हिन्दोस्तां हमारा भाग-1 की भूमिका से साभार

## विवाद : प्रेमचंद को साम्यवादी बनाने की कवायद

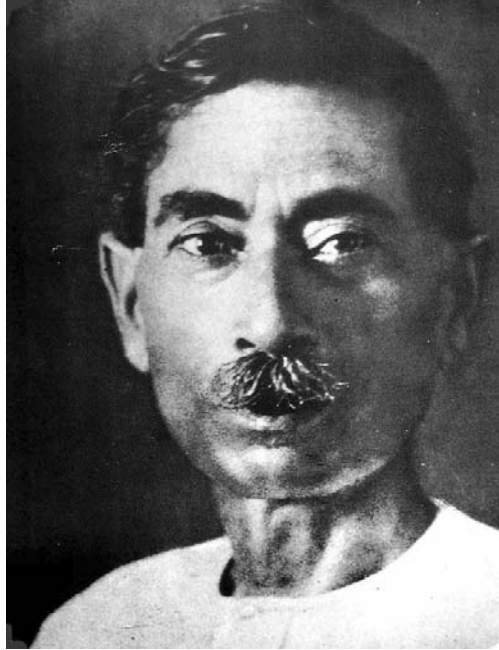
■ डॉ. खुशीद अनवर

“प्रगतिशील लेखक संघ का सीधा जुड़ाव भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी से था। चुनावे प्रेमचंद लेखक संघ के महाधिवेशन की अध्यक्षता भी कर गए थे (और जिन्हें बाद में कुछ ने लेखक संघ के संस्थापक के रूप में भी स्थापित कर दिया), उनका कम्युनिस्ट होना भी जरूरी हो गया। तब कवायद शुरू हुई प्रेमचंद के चंद लेखों और उद्धरणों को आधार बना कर उन्हें कम्युनिस्ट साबित करने की।”

पिछले कुछ दिनों से एक अजीब-सी बहस चल रही है, जिसे पढ़ कर लगता है जैसे बात प्राचीन युग की हो और इतिहास में विभिन्न इतिहासकारों में मतभेद कायम हो। लेकिन बहस का मुद्दा सौ साल पुराना भी नहीं है। बहस के केंद्र में दो बातें हैं : प्रेमचंद कम्युनिस्ट थे या नहीं? और प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना कब हुई?

सबसे पहले दूसरा सवाल। प्रगतिशील लेखक संघ के पदाधिकारी तमिल लेखक पुनिलन ने 18 अप्रैल, 2012 को 'द हिंदू' में एक इंटरव्यू दिया। उनके मुताबिक “प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना 1936 में हुई और प्रेमचंद, मुल्कराज आनंद, सज्जाद जहीर जैसे लोग संगठन के नेतृत्व में रहे।” मेरे मित्र प्रणय कृष्ण ने अपने लेख “प्रगतिशील आंदोलन के 75 साल” में लिखारू “सज्जाद जहीर के 1936 में बनाए गए संगठन का महत्त्व यह था कि वह पहला महान प्रयास था, जिसमें इस पूरे दायरे की रचनात्मक-क्रांतिकारी संभावना को चरितार्थ करने का सपना दिखाया।”

अब जरा एक बयान खुद प्रगतिशील लेखक संघ के संस्थापकों में से एक मुल्कराज आनंद की जबानी सुन लें- “1935 में लंदन में नवंबर के कोहरे भरे दिनों के दौरान 1931 के पूंजीवादी संकट के मद्देनजर हिंदुस्तान में हमारे जिन मूल्यों को आघात पहुंचा और जिस तरह



हिंदुस्तानी आवाम में निराशा छाई, उससे व्यथित हममें से कुछ साथियों ने प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना (लंदन में) की। लंदन में हम हर पखवाड़े में साहित्यिक गोष्ठियां करते रहे। हालांकि अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ का महाधिवेशन अप्रैल 1936 में लखनऊ में हुआ।”

मुल्कराज आनंद की बात सही मानी जाए या वर्तमान अध्यक्ष पुनिलन की, या अन्य लेखकों की जो प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना 10 अप्रैल, 1936 साबित करने पर आमादा हैं?

आखिर वजह क्या है इस बात की कि इतने छोटे-से वक्फे में ऐसी भ्रामक स्थिति बन जाए? दरअसल, इसके तार जुड़े हैं ऊपर उठाए गए पहले सवाल से, कि प्रेमचंद कम्युनिस्ट थे या नहीं? जाहिर है कि लंदन में जिन लोगों ने प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की, उनमें से ज्यादातर इंग्लैंड में तालीम हासिल करने वाले भारतीय साहित्यकार और लेखक थे। वे मुख्यतः कम्युनिस्ट थे और दबी जबान में यह भी कह लूं कि इनमें से ज्यादातर अभिजन यानी एलीट थे।

1930 का दशक आते-आते प्रेमचंद हिंदुस्तानी साहित्यकारों में, खासकर हिंदी और उर्दू पाठकों के बीच, निर्विवाद रूप से सबसे बड़ा नाम बन चुके थे। प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना में प्रेमचंद का नाम जुड़ना संगठन के लिए बड़ी प्रतिष्ठा पाने जैसा था। लिहाजा लखनऊ के

महाधिवेशन की सदारत करने वाले प्रेमचंद को प्रगतिशील लेखक संघ का संस्थापक ही प्रचारित कर दिया गया।

प्रगतिशील लेखक संघ का सीधा जुड़ाव भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी से था। चुनांचे प्रेमचंद लेखक संघ के महाधिवेशन की अध्यक्षता भी कर गए थे (और जिन्हें बाद में कुछ ने लेखक संघ के संस्थापक के रूप में भी स्थापित कर दिया), उनका कम्युनिस्ट होना भी जरूरी हो गया। तब कवायद शुरू हुई प्रेमचंद के चंद लेखों और उद्धरणों को आधार बना कर उन्हें कम्युनिस्ट साबित करने की।

यकीनन प्रेमचंद शुरू में बोल्शेविक क्रांति के कायल हुए थे। प्रेमचंद आखिर जिन किसानों और पीड़ित समुदायों के पक्षधर थे, वह विचारधारा बोल्शेविक क्रांति और साम्यवादी विचारों से जा मिलती थी। मगर प्रेमचंद ने कभी खुद को साम्यवादी घोषित नहीं किया। न उनके साहित्य में हिंसक बोल्शेविक क्रांति की अनुगूंज मिली। मिला अहिंसा का संदेश और खूनी क्रांति का तिरस्कार, जो उन्हें मार्क्स के नहीं गांधी बाबा के करीब ले जाता था।

प्रेमचंद को साम्यवादी घोषित करना उसी तरह से है, जैसे जवाहरलाल नेहरू को गांधी से अलग कर उन पर लाल बिल्ला लगा दिया जाए। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की पहल पर 1936 में ही ऑल इंडिया स्टूडेंट फेडरेशन का गठन हुआ, जिसका उद्घाटन नेहरू ने किया। गांधी, रवींद्रनाथ ठाकुर, तेजबहादुर सफ़्फ़, खान अब्दुल गफ़्फ़ार खां आदि ने संदेश भेजे और वक्ताओं में गोविंदवल्लभ पंत भी शामिल थे। अब वह पहल तो कम्युनिस्ट पार्टी की थी, लेकिन जो नाम अभी गिने गए उनमें कौन साम्यवादी था?

प्रगतिशील लेखक संघ के महाधिवेशन की अध्यक्षता प्रेमचंद ने वैसे ही की जैसे ऑल इंडिया स्टूडेंट्स फेडरेशन के अधिवेशन का उद्घाटन जवाहरलाल नेहरू ने किया। इस हिसाब से तो नेहरू और अन्य लोगों सहित गोविंदवल्लभ पंत को भी साम्यवादी करार दे देना चाहिए?

प्रेमचंद को साम्यवादी साबित करने के जुगाड़ में बार-बार उनके 'महाजनी सभ्यता' लेख का उल्लेख किया जाता है। बेशक प्रेमचंद ने 'नई सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चिम से उदय' की प्रशंसा की। यह ऐसा समय था जब पहले विश्वयुद्ध के बाद अचानक आशा की एक ऐसी किरण दिखी, जिसमें सरमायादारी की, शोषण की, गुलामी की जंजीरें टूटती नजर आईं। इस नई रोशनी ने तमाम ऐसे लोगों के दिलों में जगह बनानी शुरू कर दी जो शोषक, सामंती और सरमायादाराना निजाम के खिलाफ थे

या खुद शोषित थे।

प्रेमचंद महान लेखक थे। उनकी नजरों में शोषण रहित समाज क्यों ऊंचा दर्जा न पाता। उस नए, उभरते निजाम ने तो उनको भी पुरउम्मीद कर दिया था, जो जानते भी नहीं थे कि कम्युनिज्म है क्या। उनके लिए तो बस भूख से आजादी ही सब कुछ थी। प्रेमचंद ने कहा, 'धन्य है वह सभ्यता, जो मालदारी और व्यक्तिगत संपत्ति का अंत कर रही है और जल्दी ही या देर से दुनिया उसका पदानुसरण अवश्य करेगी, यह सभ्यता अमुक देश की समाज रचना अथवा धर्म-मजहब से मेल नहीं खाती या उस वातावरण के अनुकूल नहीं है, यह तर्क नितान्त असंगत है।'

बिल्कुल सही कहा उपन्यास सम्राट ने। यही उम्मीद होनी चाहिए महान कथाकार से। और व्यवस्था भी ऐसी ही होनी चाहिए। भूख और गुलामी से आजाद करने वाली।

पर क्या इतना काफी होगा प्रेमचंद को साम्यवादी साबित करने के लिए? उपर्युक्त उद्धरण के फौरन बाद प्रेमचंद क्या लिखते हैं : 'ईसाई मजहब का पौधा यरुसलम में उगा और सारी दुनिया उसके सौरभ से बस गई, बौद्ध धर्म ने उत्तर भारत में जन्म ग्रहण किया और आधी दुनिया ने उसे गुरुदक्षिणा दी।'

यानी उनके लिए मुख्य मुद्दा शोषण, महाजनी और सरमायादारी से मुक्ति है। पर वे धर्मों तक की तारीफ कर रहे हैं, उसी सांस में। इसका अर्थ यह भी हुआ कि ईसाइयत या बौद्ध धर्म के जरिए शोषण, महाजनी और सरमायादारी से मुक्ति मिले तो वह भी उतनी ही ताजीम के हकदार होंगे। खुद निजी जीवन में प्रेमचंद तमाम हिंदू परंपराओं के अनुयायी थे। सच्चाई यह है कि प्रेमाश्रम, सेवासदन जैसे उपन्यास और अनेक कहानियां अक्सर उनको गांधी की तरफले जाती हैं, न कि साम्यवाद की तरफ।

1936 में हुए प्रगतिशील लेखक संघ के महाधिवेशन में जहां एक तरफ मौलाना हसरत मोहानी जैसे व्यक्ति ने कम्युनिस्ट विचारों के प्रचार-प्रसार की बात की, वहीं प्रेमचंद ने अपने भाषण में एक बार भी ऐसा कोई वक्तव्य नहीं दिया। कोई उसकी वजह बता सकता है?

प्रेमचंद को महान कथाकार ही रहने देने में हम सब का भला है। "साहित्य समाज के आगे चलने वाली मशाल" हमेशा रहेगा, इसके लिए प्रेमचंद का साम्यवादी होना जरूरी नहीं है।

## मध्ययुगीन सांस्कृतिक अभ्युत्थान तथा मानव-सामंजस्य की प्रक्रियाएं

■ मुक्तिबोध

...पिछले अंक से जारी

प्रारंभिक सदियों में मुस्लिम तत्व विदेशी ही रहे, किंतु धीरे-धीरे उनका भारतीयकरण होता गया। एक ओर संकीर्णतावादी प्रवृत्ति, तो दूसरी ओर उदारवादी प्रवृत्ति; इन दोनों के बीच संघर्ष में उदार आदान प्रदान ही की विजय होती गयी। इस्लाम का संस्पर्श पाकर, जन चेतना जाग उठी। भक्ति आंदोलन देश-भर में लहराने लगा। पहुंचे हुए साधुओं ने सामान्य मानव-धर्म की प्रतिष्ठा करनी चाही। निम्न समझी जाने वाली जातियों में से महान् साधु और कवि उत्पन्न हुए-वे हिंदू जन-साधारण और मुस्लिम जन - साधारण दोनों के श्रद्धास्पद बने। भारत के इतिहास में पहली बार, निम्न जनता ने अपने आपको प्रस्थापित करने का उद्योग किया-तत्कालीन सांस्कृतिक-सामाजिक समस्याओं को हल करना चाहा। हिंदू जनता और मुस्लिम जनता पास-पास आ गयी। प्रांतीय मुस्लिम शासनों ने इस एकता-आंदोलन में समय-समय पर भाग लिया। मानव मात्र की एकता के भाव जाति और धर्म की दीवारें तोड़ने लगे। भारत के इस आध्यात्मिक मानवीय समन्वय युग ने महान् पुरुषों को उत्पन्न किया।

### इस्लाम का भारतीय संस्कृति से सम्पर्क-तत्कालीन समस्याएं

विदेशी मुस्लिम आक्रामक भारत में बसने के इरादे से आए। शुरू की सदियों में, निःसन्देह, वे विदेशी ही रहे। किंतु, इन सदियों में भी, शासक श्रेणी में भारतीय तत्व घुसने लगे। अलाउद्दीन खिलजी के अधीन मलिक काफूर भारतीय मुसलमान ही था, गुजरात का सुल्तान मुसलमान होने के पहले तक्षक जाति का हिंदू ही था। हसन गंगू, जिसने दिल्ली सल्तनत के अंतिम दिनों में, दक्षिण में बहमनी राज्य की स्थापना की, हिंदू ही से मुसलमान हुआ था। दूसरे शब्दों में, शासक-श्रेणी में भारतीय तत्व घुसते जा रहे थे।

दिल्ली की अफगान सल्तनत में बड़े राज-कर्मचारी भले ही मुसलमान हों, हिंदुओं के बिना उनका काम नहीं चल सकता था। छोटे अधिकारी और साधारण राज-कर्मचारी हिंदू ही थे। इन हिंदू कर्मचारियों के सहयोग से ही भूमि-कर तथा अन्य कर वसूल किये जाते। इस प्रकार, मुस्लिम जन-साधारण तथा हिंदू जन-साधारण में संपर्क हो जाता था, जो कालान्तर में और गहरा हो गया।

सल्तनत के हास काल के समय, चौदहवीं सदी के अन्तिम चरणों में, जिन स्वतंत्र मुस्लिम राज्यों का अभ्युदय हुआ, उनमें

हिंदू और मुसलमान और भी पास-पास आ गये। न केवल ऊंचे ओहदों पर हिंदुओं की नियुक्तियां होतीं, वरन् शासन संचालन के काम भी उनके हवाले कर दिये जाते। मालवे में माण्डू के सुल्तान ने चन्देरी के राजा मेदिनी राय को और उनके मित्रों को महत्वपूर्ण अधिकार दे रखे थे। बंगाल के सुल्तान हुसैनशाह ने न मालूम कितने ही हिंदुओं पर राज-काज चलाने की जिम्मेदारी सौंपी। उसके उच्च पदाधिकारियों में सनातन, पुरन्दर तथा रूप नामक व्यक्ति अधिक प्रसिद्ध हैं।

मुस्लिम शासक हिंदू मन्दिरों और समाधियों के लिए दान देते। बिहार के मुहम्मद शाह नामक एक जागीरदार ने अपनी जागीर का एक मुख्य भाग बौद्ध गया के मन्दिरों को दे रखा था। काश्मीर का सुल्तान जैनुलआबदीन शारदा देवी और अमरनाथ के मन्दिर में दर्शनार्थ जाया करता था। उसने यात्रियों के लिए अनेक विश्रामस्थल भी बनाए थे। मुहम्मद तुगलक जैसे सुल्तान हिंदू योगियों और साधुओं के पास अपनी आन्तरिक इच्छाओं की पूर्ति हेतु जाने लगे। इस बात का उल्लेख है कि राजपूतों की देखा-देखी मुसलमानों ने भी 'जौहर' प्रथा अपना ली। भटनेर के मुस्लिम सूबेदार कमालुद्दीन और उसके अनुयायियों ने जब यह देखा कि तैमूरलंग की सेनाएं अब दुर्ग को नष्ट कर देंगी तो उसकी और उसके अनुयायियों की स्त्रियों ने 'जौहर' किया (चिता में कूदकर नष्ट हो गयीं), और वह सूबेदार तथा उसके अनुयायी तैमूरलंग से लड़ते-लड़ते मारे गये। हिंदू पगड़ी मुसलमानों में लोकप्रिय हो गयी। मुस्लिम स्त्रियां चूड़ियां पहनने लगीं। इसी प्रकार हिंदुओं ने भी मुस्लिम पोशाक अपना ली।

यही क्यों, बीजापुर के मुस्लिम दरबार में राज-काज मराठी भाषा में चलता रहा। बीजापुर के सुल्तान आदिलशाह कहलाते थे। इब्राहिम आदिलशाह इतना विद्वान और प्रजावत्सल था कि उसकी प्रजा उसे 'जगद्गुरु' कहकर पुकारती थी। बहमनी सल्तनत ने भी हिंदुओं को राज-काज में खींचा। उधर, विजयनगर के राज्य में कई सेनाध्यक्ष मुसलमान थे। फौज में मुस्लिम सिपाही तो रहते ही थे।

भारत में मुस्लिम साम्राज्य की दृढ़ स्थापना के पहले ही, मुस्लिम फकीर हमारे देश में आ चुके थे। विशेषकर सूफी। मुस्लिम देशों में सूफी साधुओं और फकीरों को भी काफिर समझा जाता था। फलतः, बहुत से फकीर भारत की ओर मुड़ने लगे।

ग्याहरवीं सदी में मुस्लिम राजवंश की स्थापना इस देश में

नहीं हुई थी। मुस्लिम फकीरों और पीरों को राजनैतिक शक्ति का सहारा प्राप्त न था। किंतु उनका चरित्र-बल ऊंचा था उनके सिद्धान्त, उपनिषद् तथा वेदान्त से मिलते-जुलते थे। ग्याहरवीं सदी में शेख इस्माईल, और बारहवीं सदी के प्रथम चरणों में नूर सतागर ईरानी ने शूद्र जातियों को मुसलमान बनाया। ये जातियां मुसलमान तो हो गयीं, किंतु अपने प्राचीन धर्म-प्रवृत्तियों और संस्कारों को न भूल सकीं।

ये जातियां गरीब थीं। इसलिए गरीब हिंदुओं से जल्दी घुल-मिल जातीं। एक गरीब दूसरे गरीब की भावनाएं जल्दी समझ सकता था। इस्लाम ने ऐसी ही एक जाति-योग जाति-को, जो जुगी भी कहलाती थी, अपने में दीक्षित कर लिया। एक ज़माने में जो वस्तुतः योगी थे, उन्होंने बाद में गृहस्थाश्रम ग्रहण कर लिया था। इसलिए वे योगी शूद्र जाति के अंतर्गत हो गये। बाद में ऐसी ही 'जुगी' नामक शूद्र जाति ने जब इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया तो उन पर इस्लाम के संस्कार कम और योगी जाति के संस्कार अधिक थे। कबीर ऐसी ही एक शूद्र जाति के थे, जिन पर योग के प्राचीन संस्कार शेष थे। संक्षेप में, मुस्लिम जन-साधारण का हिंदू जन-साधारण से अधिकाधिक गहरा आत्मीय संबंध स्थापित होता गया। निम्न दरिद्र जनता के स्तर पर, यह परस्पर संपर्क और संबंध ज़्यादा गहरा और अधिक आत्मीय था।

किंतु जहां तक समाज के सर्वोच्च वर्गों का प्रश्न है, वहां उनमें टकराहट होना ही स्वाभाविक था। विशेषकर वहां, जहां एक ने स्वतंत्रता खो दी हो और दूसरे ने अपना शासन जमा लिया हो। मुस्लिम शासक और उनके उच्च राज-कर्मचारी तथा सेनाध्यक्ष, धर्म के नाम पर, राजनैतिक स्वार्थ तथा आर्थिक लोभ को तृप्त कर रहे थे। बहुत बार मुस्लिम सल्तनत में धर्म की भावना को उभारा जाता, और मुस्लिम सामंतों की भूख को, हिंदू सामंतों के विनाश द्वारा, धर्म के नाम पर, तृप्त किया जाता। इस्लाम ने, या कहिये उसके व्याख्याताओं अर्थात् धर्माचार्य मुल्लाओं ने, सुलतानों को छूट दे रखी थी, और काफ़िर को मुसलमान बनाना पवित्र कार्य है यह सिखा दिया गया था। हिंदू जाति की संस्कृति प्राचीन थी, उसमें धर्म-गौरव की भावना थी, उसके पास ज्ञान था। अगर उसके पास कोई चीज़ नहीं थी तो वह राजनैतिक शक्ति नहीं थी; किंतु उसे प्राप्त करने की वे लगातार कोशिश करते जाते थे।

मुस्लिम सामन्त शासक थे, हिंदू जनता और हिंदू सामन्त शासित थे। बहुत बार मुस्लिम सामन्तों के हिंदुओं पर अत्याचारों ने उग्र अमानुषिक रूप धारण कर लिया यह एक ऐतिहासिक तथ्य है।

किंतु इस तथ्य को उत्पन्न करने वाला मूल कारण यह है कि ये लोग जो मध्य-एशिया से आए थे, भले ही सभ्य कहलाए, वे वस्तुतः सभ्य नहीं थे; इनके अंग-अंग में, उनके कण-कण में, घुमक्कड़, युद्ध-व्यवसायी जीवन का खून बहता था। जब ये मध्य

एशिया तथा पूर्वी एशिया के घास के मैदानों पर घूमते-फिरते थे, यही लोग बौद्ध बना दिये गये थे। अशोक के उपदेशों ने और कनिष्क के धर्म-प्रचार ने और बौद्ध भिक्षुओं के सत्संग ने उन्हें केवल ऊपरी तौर पर और बाहरी ढंग से सभ्य बना दिया था। जब ये पश्चिमी एशिया में मार-काट मचाते हुए, इस्लाम के संपर्क में आये तो अपना पूर्वतर बौद्ध धर्म भूल गये और झट से मुस्लिम बन गये।

एक विशेष देश, काल और परिस्थिति में, अरब जाति के एकीकरण के हेतु, हजरत मुहम्मद ने 'जिहाद', धर्म-युद्ध, को महत्वपूर्ण माना था। जिन-जिन धर्मों से मुहम्मद साहब का परिचय था, उन धर्मों के ऋषियों को उन्होंने पैगुम्बर भी मान लिया था। मुस्लिम विजेताओं ने राजनैतिक स्वार्थ पर धार्मिक मुलम्मा चढ़ा दिया था।

प्रत्येक देश और काल में मानव जाति ने एक साथ दो विरोधी प्रवृत्तियां प्रकट की हैं—(1) संकीर्णतावादी प्रवृत्ति, (2) उदारमतवादी प्रवृत्ति। इस्लाम के भीतर ही, खास कुरान को मानने वाले, किंतु ईश्वर-प्रेम के नशे में मस्त रहने वाले सूफी साधुओं को फांसी की सज़ा मिली है। मुल्लाओं और सुलतानों द्वारा वे भी काफ़िर कहे गये।

जब ये तुर्क जातियां मुसलमान हुईं तो उन्हें संकीर्णतावादी प्रवृत्ति अपने अनुकूल प्रतीत हुई। मुस्लिम धर्माचार्यों का प्रभाव भी कुछ ऐसा था कि जिससे ये प्रवृत्तियां दृढ़ हुईं। अब तुर्क जातियों के पुराने खूंखारपने को एक धार्मिक आधार भी मिल गया। राजनैतिक और आर्थिक स्वार्थों को पूरा करने के लिए अब धर्म का जोश दिलाया जाने लगा। धर्माचार्यों (मुल्लाओं) की बन आयी। लुटेरापन वीरता समझी जाने लगी। जिस लुटेरेपन को हमने अन्य विदेशी जातियों-जैसे शकों और हूणों में देखा-वही अब और भी भयानक होकर, उन्हीं हूणों और शकों की नयी मुस्लिम सन्तानों में देखा गया। ये तुर्क ठीक उन्हीं मानवजातियों के भाग थे, जिन्होंने पूर्वी एशिया से मार-काट मचाते हुए, पूर्वी यूरोप के मैदानों पर धावा मारा था।

मंदिरों और मूर्तियों को तोड़ने वाले ये खूंखार लोग, लोभ और राजनैतिक स्वार्थ के कारण, धर्म के नाम पर, अपने अनुयायियों को जोश दिलाते थे। अगर ये लूटमार न मचायें तो अपने सिपाहियों को पैसा नहीं दे सकते थे, फौज का खर्च नहीं उठा सकते थे। उसे पैसा दिलाने के लिए, धर्म और आर्थिक आवश्यकता दोनों की पूर्ति आवश्यक थी। इसलिए, युद्ध एक व्यवसाय हो गया था-राजपूत क्षत्रियों के लिए भी युद्ध एक व्यवसाय ही था।

भारत में भी, अति प्राचीन काल से ही, युद्ध-व्यवसायी जाति और उनका पृष्ठ-पोषण करने वाली पुरोहित जाति वर्तमान थी। इसलिए, एक ओर, अनवरत युद्ध होते रहते थे, और कोई केंद्रीय शक्ति अधिक दिनों तक नहीं टिक पाती थी; तो दूसरी

ओर, पुरोहित जाति अपनी धार्मिक विधियों द्वारा युद्ध-व्यवसायियों को बढ़ावा देती रहती थी। भारत ने सुसभ्य और सुसंस्कृत देश होने के फलस्वरूप, धर्म-युद्ध और युद्ध-नियम, युद्ध-बंदियों के प्रति मानवीय व्यवहार, शत्रुओं के प्रति सद्भावनापूर्ण व्यवहार तथा क्षमा, दया और करुणा का सामाजिक और सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और राजनैतिक महत्व प्रतिपादित किया।

फिर भी भारत में पहले ही से, एक विशाल युद्ध-व्यवसायी जाति के प्राधान्य के फलस्वरूप, युद्ध होते ही रहते थे, यहां तक कि यह विश्वास उत्पन्न हो गया था कि लड़ाई के मैदान में लड़ते हुए मरने से स्वर्ग प्राप्त होता है। अंतर यही था कि भारतीय युद्ध-व्यवसायी वर्ग को अर्ध-सभ्य, खूंखार युद्ध-व्यवसायी जाति से मुकाबला करना पड़ा, जिनकी युद्ध-पद्धति अलग थी। वे आतंक उत्पन्न करके, अराजकता मचाकर, अपनी नृशंसता की धाक पैदा करके और फिर धर्म का नाम लेकर, लड़ाई के मैदान में उतरते थे। वे विदेशी थे, यहां नये आये थे, भयोत्पादन उनका प्रमुख अस्त्र था।

किंतु, क्रमशः, भारत की जलवायु ने उन्हें बदलना शुरू किया। उन्होंने यहां की अर्ध-व्यवस्था में दखल नहीं दिया। कृषि और वस्तुओं के उत्पादन के लिए, वे भारतीयों पर ही निर्भर थे। यह आवश्यक था कि भारतीय जनता का एक भाग उनका अपना हो। इसीलिए, एक ओर उनके धर्म-प्रचारक शूद्र जातियों को मुसलमान बनाते जाते तो दूसरी ओर उच्चवर्गीय हिंदू, आतंक और लोभ से अभिभूत होकर, उनका धर्म स्वीकार कर लेते।

शुरू-शुरू में मुस्लिम शासक वर्ग विदेशी था, यद्यपि उसमें भी भारतीय तत्व घुसते जा रहे थे। ऐसी विदेशी शक्ति आतंक द्वारा ही सुसभ्य और गर्वपूर्ण जाति पर शासन कर सकती थी। फलतः, उसके नृशंस आतंक और बर्बर कृत्यों की स्मृतियां हिंदू जाति में सदा जीवित रहीं। किंतु क्रमशः धर्माभिमानी हिंदू जाति उनके संपर्क में आकर उन्हें ज़्यादा समझने लगी। मुस्लिम शासक वर्ग से उसके घनिष्ठ संबंध स्थापित होने लगे; और साथ ही भारतीय भावों व विचारों का उन पर प्रभाव भी पड़ने लगा। इस प्रकार, मुस्लिम शासक वर्ग में ही दो प्रवृत्तियां दिखायी दीं। एक उदारमतवादी प्रवृत्ति; दूसरी संकीर्णतावादी प्रवृत्ति। इन दोनों प्रवृत्तियों का कभी मेल नहीं हो सकता।

हिंदू सामन्त सभ्यता में भी ये दो प्रवृत्तियां प्रकट हुईं। एक प्रवृत्ति, भारतीय धर्म के नाम पर, रूढ़ि और जातिवादी संकीर्ण दृष्टिकोण को ही धर्म मानती हुई आगे बढ़ी।

दूसरी ओर मानव मात्र के लिए ऐसे सामान्य धर्म की तलाश हुई, जिस पर हिंदू और मुसलमान, ब्राह्मण और शूद्र-सब अपने जातीय भेद-भाव भूलकर-ईश्वर-प्रेम में मस्त होकर, उचित मानव-संबंध स्थापित कर सकें।

मानव-मात्र के लिए सर्व-सामान्य धर्म की आवश्यकता पर

ज़ोर देने वाले लोग समाज के निचले स्तर से निकले, जहां हिंदू-जन-साधारण और मुस्लिम जन-साधारण की घनिष्ठता थी। निर्गुण संप्रदाय के लोग और सूफ़ी इस प्रवृत्ति के समर्थक थे।

इसके विरुद्ध, ब्राह्मण प्राधान्य का आग्रही, कर्मकाण्डप्रधान, जाति-व्यवस्था प्रधान हिंदू धर्म, अधिक-से-अधिक कट्टर होता चला गया। वेदान्त और ईश्वर में आस्था रखने वाले ब्राह्मण वर्ग के लिए जातीय और उपजातीय नियम ईश्वरीय विधान के अंतर्गत थे। दक्षिण भारत में हिन्दू सामन्त, शासक वर्ग का एक भाग होने से ब्राह्मणों की बन आयी। फलतः वहां कट्टरपन ज़्यादा-से-ज़्यादा बढ़ता गया।

आज दक्षिणी भारत में ब्राह्मण-अब्राह्मण समस्या जोरदार है। इस समस्या का सूत्रपात प्राचीन काल में ही हुआ; किंतु मध्य युग में वह जोर पकड़ गयी। यह इसलिए हुआ कि भक्ति-आंदोलन के अंतर्गत साधु और फकीर निचली जातियों में से पैदा होने लगे-ऐसी जातियों में से, जिन्हें शूद्र समझा जाता था। फलतः, दक्षिण भारत के इन भक्तों को, अपने समाज द्वारा तरह-तरह का उत्पीड़न सहन करना पड़ा। ये शूद्र सन्त, जाति-भेद से परे, सामान्य मानव-धर्म में विश्वास करते थे और उस आधार पर अखिल मानव जाति की एकता उत्पन्न करना चाहते थे। यही कारण है कि कबीर को पंडित और मुल्ला दोनों को डांटना पड़ा और दोनों के अंधविश्वासों की आलोचना करनी पड़ी। महत्व की बात है कि यह आवाज़ निचले वर्गों से उठी थी-चाहे वह हिंदू हो, चाहे मुस्लिम। वैसे, बौद्ध और जैन साधु-सन्त, अति प्राचीन काल में, शील-सदाचार, प्रेम और करुणा पर जोर देते हुए, जातिवाद का विरोध कर चुके थे। किंतु, अब नयी ऐतिहासिक पार्श्वभूमि में, इस पुकार ने नया महत्व धारण कर लिया। नाथ संप्रदाय वालों ने, ग्याहरवी सदी में ही, उत्तर-पश्चिम भारत में ऐसे विचारों का प्रचार आरंभ कर दिया था। निर्गुणी सन्तों ने दक्षिण और उत्तर-भारत में इसी ढंग का प्रचार किया। दक्षिण भारत के लिंगायत संप्रदाय ने, महाराष्ट्र के महानुभाव पंथ ने, इसी धर्म-नीति का अधिक-से-अधिक प्रचार किया; और उनके इस मार्ग का, इस दृष्टि का, विरोध भी पुरोहित वर्ग द्वारा खूब ही हुआ।

जब धर्म और ईश्वर के नाम पर, परस्पर-घृणा का प्रचार किया जा सकता था तो धर्म और ईश्वर के नाम पर ही, मानव-मात्र की एकता और प्रेम का प्रचार भी किया जा सकता था। इसमें क्या आश्चर्य है कि बहुत से हिंदू सूफ़ी हो गये और बहुत-से मुसलमान कृष्ण के भक्त हुए; न मालूम कितने ही मुसलमान और अलूत, नानक और कबीर के अनुयायी हुए। राजा भर्तृहरि के गीत गाते हुए न मालूम कितने ही मुस्लिम फकीर भारतीयों के श्रद्धा-भाजन हुए।

चौदहवीं सदी के अंत में, हिंदू-मुस्लिम सांस्कृतिक मैत्री और एकता के वातावरण में, यदि प्रांतीय सुल्तानशाहियों के

अंतर्गत और राजशाहियों के अंतर्गत परस्पर विश्वास उत्पन्न होकर, अब तक विधर्मी समझे जाने वाले लोग आत्मीय-जैसे लगने लगे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

आज भारत में राजनैतिक स्वार्थों की पूर्ति करने के लिए जब जातिवाद और प्रादेशिकतावाद, सिर ताने खड़ा हुआ है, उन दिनों के सन्तों और फकीरों, पहुंचे हुए कवियों और सूफियों का नाम स्मरण करके हृदय पवित्र हो उठता है क्योंकि उन्होंने जाति, वर्ण और प्रदेश के ऊपर उठकर, मनुष्य मात्र के लिए सामान्य धर्म की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया था।

इस वातावरण में सांस लेने वाले मुस्लिम और हिंदू सामान्य भी प्रभावित हुए बिना न रह सके। बंगाल के सुलतान हुसैन (1493-1518) ने 'सत्यपीर' नामक संप्रदाय की स्थापना की। 'सत्यपीर'-देवता का नाम है। इस देवता की उपासना हिंदू और मुसलमान दोनों करते। आगे चलकर, पंद्रहवीं सदी में सतनामी और नारायणी नामक संप्रदायों का विकास हुआ, जिसमें हिंदू और मुसलमान दोनों शामिल हुए।

संक्षेप में, मुगल काल तक आते-आते, हिंदू-मुस्लिम जनता की सांस्कृतिक मैत्री और मानव-आदर्श का वातावरण बनता जा रहा था। महान् मुगल सम्राट अकबर को यह वातावरण पहले ही से मौजूद मिला। उसने उसे राजनैतिक-सामाजिक वास्तविकता में परिणित करना चाहा।

यह तो संप्रदायों की बात हुई। मुस्लिम साधु-सन्तों ने वेदान्त और वैष्णव धर्म की बहुत-सी बातें स्वीकार कर लीं। इस्लाम की सूफी साधना में योग मार्ग ने प्रवेश किया। मुस्लिम साधु-सन्तों के प्रति हिंदू जनता की, हिंदुओं की आस्था बढ़ गयी। दोनों समुदायों में सामंजस्य और सहयोग की भावना के फलस्वरूप, हिंदू मनःस्थिति और मनीषा में परिवर्तन हो गया। हिंदू धर्म, हिन्दू कला और हिन्दू ज्ञान-विज्ञान में मुस्लिम तत्वों ने प्रवेश किया। ईश्वर-प्रेम और मानव-प्रेम, दोनों समाजों को एक करने लगा। पीरों और फकीरों को हिन्दू अपना समझते।

उनकी कब्रों पर हिंदू मिठाइयां चढ़ाते और कुरान के पाठ का श्रवण करते। वे कुरान को भी देववाणी के समान मानने लगे। उधर, मुसलमान कवि भारतीय भाषाओं में कृष्ण-भक्ति प्रकट करने लगे। हिंदू अब अपने घरों में, जीवन में बुरे प्रभावों से बचने के लिए, अपशकुनों से बचने के लिए, कुरान की किताब रखने लगे, अपने घर में मुसलमानों को भोजन कराने लगे। पंजाब के अब्दुल कादिल जिलानी, बहराइच के सैयद सालार महमूद, रावलपिंडी के बहुत-से ब्राह्मणों के भक्त दोनों जातियों के लोग थे। अजमेर के शेख मुईनुद्दीन चिश्ती के सैंकड़ों

उपासक हिंदू थे। उसी प्रकार, बंगाल प्रदेश में मुसलमान लोग हिंदुओं की शीतला माता, काली माता, धर्मराज और वैद्यनाथ नामक देवी-देवताओं की मूर्तियों की पूजा करने लगे, यद्यपि स्वयं उनका धर्म मूर्ति-पूजा का विरोधक था। उसी प्रकार, मुसलमानों ने अपने नये देवताओं की भी कल्पना की, जैसे नदियों का देवता ख्वाजा खिन्न अथवा सिंह-वाहिनी वनदेवी, और उसका प्रेमी और अंगरक्षक जिन्दा गाज़ी। ये नवीनतम मुस्लिम देवता थे। हमने एक दूसरे की कुरीतियां भी लीं। हिंदू स्त्रियां पर्दा करने लगीं। मुसलमानों में भी जाति-व्यवस्था उत्पन्न हो गयी। धार्मिक उत्सवों का भी आदान-प्रदान हुआ। हमारे यहां की शिवरात्रि के अनुसार वहां 'शबे-बरात' हो गयी। हमारे यहां आरती करते और उनके यहां 'उतारा' उतारते।

इस्लाम में भक्ति-भावना का उदय हुआ। उसमें कोमलता आ गयी। रसार्द्रता उत्पन्न हुई। राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रों में भी परस्पर घनिष्ठ संबंध होने लगे। हिंदू और मुसलमान दोनों के बीच में अंतर्जातीय प्रणय-संबंध के उदाहरण सामने आए। हिंदू, मुसलमान प्रेमिकाओं को अपने यहां रखने लगे। प्रसिद्ध साहित्यशास्त्री पंडितराज जगन्नाथ की स्त्री मुसलमान थी, यह लोकश्रुति है। इस प्रकार के संबंध, हिंदू और मुस्लिम सामन्तों के बीच जो हुए होंगे सो हुए होंगे ही, एक बात निश्चित है कि सामान्य हिंदू-मुस्लिम जनता के बीच ऐसे संबंध पुराने ज़माने में होते रहते थे। अकबर ने इस प्रकार के संबंध जो राजपूत घरानों से स्थापित किये थे, असल में भारतीय जनता में किसी-न-किसी रूप में पहले ही से विद्यमान थे। राजनैतिक क्षेत्र में, जिस प्रकार हिंदू राजा मुसलमानों के मांडलिक हो उठे, उसी प्रकार हिंदू राजाओं के यहां भी मुस्लिम नवाब, मुस्लिम जागीरदार और सरदार भी रहे आये।

भारतीय जनता, अपने ढंग से, सामाजिक संश्लेषण करती जा रही थी। हिंदुओं का मुसलमानों से और मुसलमानों का हिंदुओं से प्रेम-संबंध बनता जा रहा था। किंतु औरंगज़ेब सरीखे धर्मांधों की प्रवृत्ति और शक्ति कम न थी। स्वयं मुगल दरबार में ही एक ओर शाहजहां का एक पुत्र दारा उस समय की उदारमतवादी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता था, तो उसी का भाई औरंगज़ेब उसके विरुद्ध संकीर्णतावादी प्रवृत्ति का। ये दोनों परस्पर-संघर्षशील प्रवृत्तियां हिंदू-समाज में भी काफी थीं।

ये प्रवृत्तियां आज भी हैं, जिसके फलस्वरूप भारत में सामाजिक संस्कृति का विकास नहीं हो पाता।

...क्रमशः जारी

साभार : मुक्तिबोध रचनावली, भाग 6

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26177904, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904,

ईमेल : notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए